नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 136 • वर्ष 12 अंक 8
अक्टूबर 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

लोकतन्त्र का लबादा खूँटी पर, दमन का चाबुक हाथ में!

"वामपन्थी" उग्रवाद से निपटने के नाम पर आम जनता के ख़िलाफ़ ख़ूनी युद्ध की तैयारी!

सम्पादक मण्डल

विगत 8 अक्टूबर की शाम को प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह की अध्यक्षता में सुरक्षा-विषयक मन्त्रिमण्डलीय कमेटी की एक ऐतिहासिक बैठक हुई जिसमें माओवादियों के विरुद्ध अब तक की सबसे बड़ी सशस्त्र आक्रमणात्मक कार्रवाई का निर्णय लिया गया। बैठक में गृहमन्त्री चिदम्बरम, प्रतिरक्षा मन्त्री ए.के. एण्टोनी और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा सलाहकार एम.के. नारायणन भी मौजूद थे। बैठक ने गृह मन्त्रालय की रणनीतिक योजना को मंजूरी देते हुए यह निर्णय लिया कि इस मुहिम में प्रभावित राज्यों की सशस्त्र पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों के विशेष प्रशिक्षित छापामार विरोधी दस्तों और आन्ध्रप्रदेश के नक्सल विरोधी कोबरा बटालियन के अतिरिक्त केन्द्रीय सुरक्षा बलों के 75 हज़ार जवान हिस्सा लेंगे।

यूँ तो फ़िलहाल सेना सीधे इस कार्रवाई में शामिल नहीं होगी, पर केन्द्रीय सुरक्षा बलों के शामिल जवानों को छापामार-विरोधी प्रशिक्षण सेना द्वारा ही दिया गया है और वे क्षमता की दृष्टि से सेना के ही समकक्ष हैं। भारतीय वायुसेना के हेलिकॉप्टरों में सवार गरुड़ कमाण्डो ज़मीनी अभियान में मदद करेंगे। यह अभियान मुख्यत: महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड, बंगाल और बिहार के उन परस्पर लगे सीमाक्षेत्रों में केन्द्रित होगा, जो जंगलों-पहाड़ों के इलाक़े हैं और जिन्हें भा.क.पा. (माओवादी) का मुख्य प्रभावक्षेत्र माना जाता है। सूत्रों के अनुसार, सशस्त्र कार्रवाई की यह पूरी योजना अमेरिकी काउण्टर-इन्सर्जेन्सी (विद्रोह-प्रतिरोधी) एजेंसियों की मदद से तैयार की गयी है। पूर्वोत्तर भारत और जम्मू-कश्मीर के बाहर, केन्द्रीय सुरक्षा बलों की यह अबतक की सबसे बड़ी लामबन्दी है।

इस पूरी हुकूमती मशक्कत पर अगर एक वाक्य में टिप्पणी करनी हो तो कहा जा सकता है : **'नक्सलवाद तो बहाना है, जनता ही निशाना है।' दूसरी बात** यह कि हर प्रकार की आतंकवादी राजनीति शासक वर्गों की ही राजनीति और अर्थनीति के प्रतिक्रियास्वरूप पैदा होती है और फिर शासक वर्गों की सत्ता उसे हथियार के बल से ख़त्म करना चाहती है, जो कभी भी सम्भव नहीं हो पाता। आतंकवाद या तो अपने खुद के अन्तरविरोधों और कमजोरियों का शिकार होकर समाप्त होता है या उसे जन्म देने वाली परिस्थितियों के बदल जाने पर समाप्त हो जाता है। शासक वर्ग जब भी भाड़े की सेना-पुलिस और हथियारों के बूते आतंकवाद को दबाने की कोशिश करता है, तो वस्तुत: पूरे प्रभावित इलाक़े की जनता के ख़िलाफ़ ही बर्बर अत्याचारी अभियान के रूप में एक युद्ध छेड़ देता है। **तीसरी बात,** आतंकवादी राजनीति कभी सफल नहीं हो सकती और ज़ाहिर है कि उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। लेकिन आतंकवाद - चाहे प्रतिक्रियावादी (तालिबान, अल-कायदा और लश्करे तैय्यब जैसा) हो या क्रान्तिवादी (जैसे कि "वामपन्थी" उग्रवाद), अपने दोनों ही रूपों में वह साम्राज्यवादी-पूँजीवादी राज्यसत्ताओं की अन्यायपूर्ण एवं दमनकारी नीतियों का नतीजा होता है, अथवा राजकीय आतंकवाद के प्रतिक्रियास्वरूप पैदा होता है। जब जनक्रान्ति की ताक़तें कमज़ोर होती हैं और ठहराव और प्रतिक्रिया का माहौल होता है जो ऐसे में दिशाहीन विद्रोह और निराशा की एक अभिव्यक्ति आतंकवाद के रूप में सामने आती है। लेकिन जगज़ाहिर है कि इस राजनीति के विरुद्ध वैचारिक-राजनीतिक संघर्ष ही किया जा सकता है। सरकार यदि इस राजनीति के सक्रिय लोगों के साथ अपराधियों जैसा सुलूक करती है, उन्हें टॉर्चर, फ़र्जी मुठभेड़ों और हिरासती हत्याओं का शिकार बनाती है और उन्हें राजनीतिक बन्दी का अधिकार तक नहीं देती तो जनवादी चेतना से लैस हर नागरिक लाज़िमी तौर पर इसका विरोध करेगा। **चौथी बात,** सेना-पुलिस एवं अर्द्धसैनिक बलों की बनावट-बुनावट और कार्यप्रणाली होती ही ऐसी है कि आतंकवादियों के दमन के नाम पर पूरे प्रभावित क्षेत्र की आम जनता को बर्बर अत्याचार का निशाना बनाती है। जम्मू-कश्मीर से लेकर असम-नगालैण्ड-मणिपुर तक, छत्तीसगढ़ से लेकर नन्दीग्राम और लालगढ़ तक, हर जगह ऐसा ही हुआ है, क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ सम्भव ही नहीं है। **पाँचवीं बात,** साम्राज्यवादी और सभी देशों के पूँजीवादी शासक हर जुझारू जनान्दोलन, जनसंघर्ष और जनक्रान्ति को भी आतंकवाद ही बताते हैं और उनके विरुद्ध स्वयं द्वारा छेड़े गये युद्ध को न्यायसंगत ठहराते हैं। अमेरिका क्यूबाई क्रान्ति और उसके नेताओं को आधी सदी से आतंकवादी मानता आया है। वह फ़िलीस्तीनी मुक्ति संघर्ष को भी आतंकवादी मानता है। पूर्वोत्तर भारत में उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं में व्यापक आधार रखने वाले सशस्त्र संगठनों को भारत सरकार आतंकवादी मानती है (हालाँकि बीच-बीच में उनके साथ समझौते करने को भी विवश होती

(पेज 6 पर जारी)

गोरखपुर में मज़दूरों की एकजुटता के आगे झुके मिल मालिक

आन्दोलन की आंशिक जीत, लेकिन मालिकान के अड़ियल रवैये के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी

बिगुल संवाददाता

गोरखपुर में अगस्त के पहले सप्ताह से जारी मॉडर्न लेमिनेटर्स लि. और मॉडर्न पैकेजिंग लि. के मज़दूरों के आन्दोलन में मज़दूरों को एक आंशिक जीत हासिल हुई जब 24 सितम्बर को ज़िला प्रशासन द्वारा कराये गये समझौते में 15 दिनों के अन्दर अधिकांश माँगें लागू कराने की बात तय हुई। समझौते में यह भी तय हुआ कि इस दौरान 2 लेबर इंस्पेक्टर श्रम क़ानूनों के उल्लंघन पर नज़र रखने के लिए दोनों कारख़ानों में तैनात रहेंगे। 15 दिन के बाद उपश्रमायुक्त और ज़िलाधिकारी की मौजूदगी में मज़दूर प्रतिनिधियों के साथ समझौते के क्रियान्वयन की समीक्षा की जायेगी।

मज़दूरों के जुझारू तेवरों और जनमत के भारी दबाव के कारण प्रशासन ने मालिकों को इस समझौते के लिए बाध्य किया था लेकिन मालिक अब भी अड़ियल रवैया अपनाये हुए है। समझौते के बाद अगले ही दिन से मज़दूरों को काम पर वापस लेने के सवाल पर उसने तिकड़मबाज़ी शुरू कर दी। कई बार कारख़ाना गेट पर उग्र प्रदर्शन, डीएलसी के घेराव आदि के बाद आज तक करीब आधे ठेका मज़दूरों और महिलाओं को काम पर नहीं लिया गया है। लूम आपरेटरों की मज़दूरी में महज़ 14 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की गयी है जो अब भी न्यूनतम वेतन से बहुत कम है। यह रिपोर्ट लिखे जाने तक संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा ने ज़िला प्रशासन को नोटिस दिया था कि अगर प्रशासन अपने द्वारा कराये गये समझौते को लागू नहीं करा पाता है तो ज़िलाधिकारी कार्यालय पर मज़दूर आमरण अनशन शुरू कर देंगे।

दरअसल गोरखपुर के उद्योगपतियों ने यह तय कर लिया था कि किसी भी क़ीमत पर वे इस मज़दूर आन्दोलन को सफल नहीं होने देंगे। उन्हें डर था कि अगर इस बार मज़दूरों की माँगें मान ली गयीं तो पूरे गोरखपुर और आसपास के तमाम कारख़ानों के मज़दूरों का हौसला बढ़ेगा और वे भी अपनी माँगों के लिए आवाज़ उठाने लगेंगे। बरगदवा इलाक़े में तीन कारख़ानों के मज़दूरों के सफल आन्दोलन से शुरू हुआ यह सिलसिला कहीं पूरे पूर्वांचल में मज़दूर आन्दोलन की नयी लहर न पैदा कर दे, ये उनका सबसे बड़ा डर है। उनका डर स्वाभाविक है, क्योंकि मज़दूरों को हर तरह के अधिकारों से वंचित रखकर किस तरह उनकी हड्डियाँ निचोड़ने का काम इस इलाक़े के तमाम कारख़ानों में होता

(पेज 12 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

- रामपुर-चंदौली के पाँच बोरा कारख़ानों के मज़दूरों के आन्दोलन की आंशिक जीत – पृ. 3
- जब एक हारी हुई लड़ाई ने जगाई मज़दूरों में उम्मीद और हौसले की लौ... – पृ. 3
- प्रधानमन्त्री जी, देश की सुरक्षा को ख़तरा आतंकवाद से नहीं, ग़रीबी-भुखमरी-बेरोज़गारी से है! – पृ. 8
- नाना पाटेकर, सनी देओल और चिदम्बरम – पृ. 8
- चीन की नवजनवादी क्रान्ति मेहनतकश जनता के लिए प्रेरणा का अक्षयस्रोत बनी रहेगी! – पृ. 9
- हिटलर को हराकर दुनिया को फासीवाद के राक्षस से मज़दूरों के राज ने ही बचाया था – पृ. 10

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

देश के ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में अभूतपूर्व सैन्य आक्रमण शुरू करने की भारत सरकार की योजना के ख़िलाफ़ ज्ञापन

प्रति
डॉ. मनमोहन सिंह
प्रधानमन्त्री, भारत सरकार,
साउथ ब्लॉक, रायसीना हिल,
नई दिल्ली,

हम भारत सरकार द्वारा आन्ध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल राज्यों के आदिवासी (मूल निवासी) बहुल इलाक़ों में सेना और अर्द्धसैनिक बलों के अभूतपूर्व हमले शुरू करने की योजना को लेकर बेहद चिन्तित हैं।

कथित तौर पर इस हमले का लक्ष्य इन इलाक़ों को माओवादी विद्रोहियों के प्रभाव से "मुक्त" कराना है। इस तरह के सैन्य अभियान से उन क्षेत्रों में रहने वाले लाखों ग़रीब लोगों का जीवन और आजीविका ख़तरे में पड़ जायेंगे, जिसके परिणामस्वरूप आम नागरिकों का बड़े पैमाने पर विस्थापन होगा और कठिनाइयाँ बढ़ेंगी एवं उनके मानवाधिकारों का उल्लंघन होगा। विद्रोह के प्रभाव को खत्म करने के प्रयास के नाम पर सबसे ग़रीब भारतीय नागरिकों की धर-पकड़ के प्रतिकूल और ख़तरनाक परिणाम होंगे। अर्द्धसैनिक बलों द्वारा चलाये जा रहे अभियान, जिन्हें सरकारी एजेंसियों द्वारा संगठित और वित्तपोषित विद्रोह-विरोधी (काउण्टर इन्सर्जेन्सी) मिलीशिया की सहायता मिल रही है; छत्तीसगढ़ और पश्चिम बंगाल के कुछ हिस्सों में पहले ही गृहयुद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न कर चुके हैं, जिसमें सैकड़ों लोग मारे जा चुके हैं और हज़ारों विस्थापित हो गये हैं। प्रस्तावित सैन्य आक्रमण से न केवल आदिवासियों में ग़रीबी, भुखमरी, अपमान और असुरक्षा बढ़ेगी, बल्कि यह और बड़े हिस्से में फैल जायेगी।

1990 के दशक के आरम्भ से भारतीय राज्य के नीतिगत ढाँचे में आये नवउदारवादी बदलाव के बाद से बढ़ती राज्य प्रायोजित हिंसा के कारण भारत की अधिकांश आदिवासी आबादी भीषण ग़रीबी में रसातल का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है।

पहले ग़रीबों का जंगल, ज़मीन, नदियों, चरागाह, गाँव के तालाब और साझा सम्पत्ति वाले संसाधनों पर जो भी थोड़ा-बहुत अधिकार था, वे भी विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज़) और खनन, औद्योगिक विकास, सूचना प्रौद्योगिकी पार्कों आदि से सम्बन्धित अन्य "विकास" परियोजनाओं की आड़ में भारत राज्य के लगातार निशाने पर हैं। जिस भौगोलिक क्षेत्र में सरकार द्वारा सैन्य या अर्द्ध-सैनिक हमले करने की योजना है, वहाँ खनिज, वन सम्पदा और पानी जैसे प्रचुर प्राकृतिक स्रोत हैं, और ये इलाक़े बड़े पैमाने पर अधिग्रहण के लिए अनेक कॉरपोरेशनों के निशाने पर रहे हैं। विस्थापित और सम्पत्तिविहीन किये जाने के खिलाफ़ स्थानीय मूल निवासियों के प्रतिरोध के कारण कई मामलों में सरकार के समर्थन प्राप्त कॉरपोरेशन इन क्षेत्रों में अन्दरूनी भाग तक जाने वाली सड़कें नहीं बना सके हैं। हमें डर है कि यह सरकारी हमला इन कॉरपोरेशनों के प्रवेश और काम करने को सुगम बनाने के लिए और इस क्षेत्र के प्राकृतिक स्रोतों एवं लोगों के अनियन्त्रित शोषण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ऐसे लोकप्रिय प्रतिरोधों को कुचलने का प्रयास भी है। बढ़ती असमानता और सामाजिक वंचना तथा ढाँचागत हिंसा की समस्याएँ, और जल-जंगल-ज़मीन से विस्थापित किये जाने के ख़िलाफ़ ग़रीबों और हाशिये पर धकेल दिए गये लोगों के अहिंसक प्रतिरोध का राज्य द्वारा दमन किया जाना ही समाज में गुस्से और उथल-पुथल को जन्म देता है एवं ग़रीबों द्वारा राजनीतिक हिंसा का रूप अख़्तियार कर लेता है। समस्या के स्रोत पर ध्यान देने के बजाय, भारतीय राजसत्ता ने इस समस्या से निपटने के लिए सैन्य हमला शुरू करने का निर्णय लिया है : **ग़रीबी को नहीं ग़रीब को ख़त्म करो**, भारत सरकार का छिपा हुआ नारा जान पड़ता है।

हमारा मानना है कि यदि सरकार ने लोगों की परेशानियों पर ध्यान दिये बिना अपनी ही जनता के दमन का प्रयास किया, तो इससे भारतीय लोकतन्त्र पर कुठाराघात होगा। ऐसे प्रयासों की अल्पकालिक सैन्य सफलता भले ही बेहद सन्दिग्ध है, लेकिन जैसा कि पूरी दुनिया में असंख्य विद्रोही आन्दोलनों के मामले में देखा गया है, जनसाधारण पर टूट पड़ने वाली तकलीफ़ों और तबाही के कहर के बारे में कोई सन्देह नहीं है। हम भारत सरकार से अनुरोध करते हैं कि वह तुरन्त सैन्य बलों को वापस बुलाये और ऐसे सैन्य अभियान चलाने की योजनाओं पर रोक लगाये जिनसे गृहयुद्ध भड़कने की सम्भावना है, क्योंकि इससे भारतीय आबादी के ग़रीब और सर्वाधिक शोषित तबकों की तकलीफ़ें और बढ़ जायेंगी तथा कॉरपोरेशनों द्वारा उनके संसाधनों की लूट का रास्ता साफ़ हो जायेगा।

हस्ताक्षरकर्ता –

अरुन्धती राय, अमित भादुड़ी, सन्दीप पाण्डे, प्रशान्त भूषण, मनोरंजन मोहन्ती, गौतम नवलखा, सुमन्त बैनर्जी, कोलिन गोंज़ाल्वेस, स्वप्न बनर्जी-गुहा, मधु भादुड़ी, अरुन्धति धुरू, नंदिनी सुन्दर, अरविन्द केजरीवाल, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, हावर्ड ज़िन, जॉन बेलामी फॉस्टर, डेविड हार्वे, महमूद ममदानी, गिल्बर्ट अचकार, कात्यायनी, सत्यम, रामबाबू, अभिनव सिन्हा, कमला पाण्डेय, शकील सिद्दीकी, वीरेन्द्र यादव, राहुल दारापुरी, सी.बी.सिंह, जी.पी. भट्ट, कामतानाथ, गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, रवीनद्र वर्मा, नरेश सक्सेना, संजय श्रीवास्तव, सुशील दोषी, अ. रतन, सुखविन्दर, राजविन्दर, लखविन्दर, तपीश मैंदोला, मीनाक्षी, शाकम्भरी, विमला सक्करवाल, संदीप शर्मा, कपिल स्वामी, जयपुष्प, शिवानी कौल, शिवार्थ, आशीष, अजय स्वामी

इस ज्ञापन पर अब तक देश भर के हज़ारों बुद्धिजीवी, और सामाजिक कार्यकर्ता हस्ताक्षर कर चुके हैं...

श्रद्धांजलि

नहीं रहे प्रो. के. बालगोपाल

नागरिक स्वतन्त्रता एवं जनवादी अधिकार आन्दोलन के अग्रणी कार्यकर्ता प्रो. के. बालगोपाल का गत 8 अक्टूबर की रात को दिल का दौरा पड़ने के बाद मेहदीपटनम (आन्ध्र प्रदेश) के एक अस्पताल में निधन हो गया। उनकी उम्र महज़ बावन वर्ष की थी। प्रो. बालगोपाल का असामयिक-आकस्मिक निधन भारत के जनवादी अधिकार आन्दोलन के लिए एक गम्भीर नुक़सान है।

जनवादी अधिकार आन्दोलन के एक अग्रणी संगठनकर्ता के रूप में प्रो. बालगोपाल विगत लगभग पच्चीस वर्षों से आन्ध्र प्रदेश में सक्रिय थे। एक दशक पहले काकतीय विश्वविद्यालय में प्राध्यापक की नौकरी छोड़कर उन्होंने वकालत की शुरुआत की थी। 1980 के दशक में 'आन्ध्र प्रदेश सिविल लिबर्टीज़ कमेटी' (ए.पी.सी.एल.सी) के गठन के समय से ही वे उसमें सक्रिय थे। गिरफ़्तारी, फ़र्जी मुक़दमों और पुलिसिया आतंक झेलने की क़ीमत चुकाने के बावजूद बालगोपाल नक्सलवाद के दमन के नाम पर आम जनता पर पुलिसिया आतंक राज क़ायम करने, फ़र्जी मुठभेड़ों, पुलिस हिरासत में यन्त्रणा और मौतों, फ़र्जी मुक़दमों और क़ाले क़ानूनों के विरुद्ध लगातार निर्भीकतापूर्वक आवाज़ उठाते रहे। नक्सलवादी क़ैदियों को राजनीतिक बन्दी का अधिकार दिलाने के लिए भी वे लगातार संघर्ष करते रहे।

प्रो. बालगोपाल का मानना था कि राजकीय हिंसा और आतंक का विरोध करना जनवादी अधिकार आन्दोलन का सर्वोपरि दायित्व है, लेकिन साथ ही उन्होंने तत्कालीन भा.क.पा (मा-ले) (पीपुल्स वार) की "वामपन्थी" आतंकवादी राजनीति का भी विरोध किया। इस प्रश्न पर गहरे मतभेद के बाद, ए.पी.सी.एल.सी. से अलग होकर उन्होंने 'ह्यूमन राइट्स फ़ोरम' की स्थापना की। वे भाकपा (माओवादी) की राजनीतिक हत्या और आतंक की राजनीतिक को ग़लत मानते थे, लेकिन माओवादियों के विरुद्ध फ़र्जी मुक़दमों, उनकी फ़र्जी मुठभेड़ और पुलिस हिरासत में यन्त्रणा का विरोध करते थे और उनके राजनीतिक अधिकारों के मुद्दों को ज़ोर-शोर से उठाते रहते थे। छत्तीसगढ़ में 'सलवा जुडुम' के नाम पर आदिवासियों के राजकीय दमन की मुहिम के विरुद्ध उनकी रिपोर्ट काफ़ी चर्चा में रही थी।

प्रो. बालगोपाल को 'बिगुल' की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि!

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक
बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हमारा प्रयास होगा कि बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक जल्दी ही वेबसाइट पर उपलब्ध करा दिये जायें।

वेबसाइट का पता :
http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं।

ब्लॉग का पता :
http://bigulakhbar.blogspot.com

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डापफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
फ़ोन : 0522-2335237
सम्पादकीय उपकार्यालय : **जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**
दिल्ली सम्पर्क : **बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94**
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति-रु. 3/- वार्षिक-रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)**

रामपुर-चंदौली के पाँच बोरा कारख़ानों के मज़दूरों के आन्दोलन की आंशिक जीत

आतंक और असुरक्षा के साये में जीने को मजबूर हैं भयंकर शोषण के शिकार हज़ारों मज़दूर

बिगुल संवाददाता

उत्तर प्रदेश के चन्दौली ज़िले के रामनगर औद्योगिक क्षेत्र में भी देश के दूसरे हिस्सों की तरह श्रम क़ानूनों का कोई मतलब नहीं है। मज़दूर 12-14 घण्टे काम करके मुश्किल से जीने लायक कमा पाते हैं। मालिकों की गुण्डागर्दी और आतंकराज के सामने वे बिल्कुल निहत्थे हैं। पूरे इलाक़े में कोई यूनियन नहीं है। मज़दूर नेताओं के नाम पर चुनावी पार्टियों से जुड़े कुछ दलाल नेता भर हैं। इलाक़े में करीब 70-75 छोटे और मध्यम दर्जे के कारख़ानों में हज़ारों मज़दूर काम करते हैं। पहले यह क्षेत्र बनारस ज़िले में आता था लेकिन अब नये ज़िले चन्दौली का भाग है। दोनों शहरों से दूर बेहद पिछड़े इलाक़े में होने के कारण मज़दूरों की कठिनाइयाँ और बढ़ जाती हैं।

ऐसे में प्लास्टिक की बोरियाँ बनाने वाले पाँच कारख़ानों के मज़दूरों के आन्दोलन से यहाँ के उद्योगपतियों में तो खलबली मच गयी लेकिन मज़दूरों के बीच उत्साह की लहर दौड़ गयी। फ़िलहाल मालिकों की संगठित ताक़त के आगे मज़दूरों को बहुत कम पर सन्तोष करके आन्दोलन वापस लेना पड़ा है, लेकिन इस छोटी-सी लड़ाई ने इस अँधेरे प्रदेश के ग़रीब मेहनतकशों को उम्मीद की किरण दिखा दी है। न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे आठ करने, जॉब कार्ड, ई.एस.आई. कार्ड जैसी मूलभूत सुविधाओं के लिए नीलकमल, मिथिला, वाराणसी, लोलार्क और विनायक पॉलीटेक्स नाम के बोरा कारख़ानों में पिछले एक अक्टूबर को हड़ताल शुरू हो गयी थी। इन सभी कारख़ानों में लम्बे समय से मज़दूरों में असन्तोष भीतर ही भीतर सुलग रहा था। गोरखपुर में चले बोरा कारख़ानों के मज़दूरों के लम्बे आन्दोलन की ख़बरें यहाँ पहुँचने के बाद यहाँ भी अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाने की बात मज़दूरों के भीतर चल पड़ी थी। गोरखपुर में आन्दोलन चला रहे "संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा' की ओर से पूर्वांचल के मज़दूरों के नाम जारी अपील के करीब 1000 पर्चे कुछ मज़दूरों ने यहाँ लाकर बाँटे भी थे।

मज़दूरों के बीच फैलती आन्दोलन की सुगबुगाहट की भनक पाकर मालिकों ने सितम्बर में खुद ही काम के घण्टे आठ करने की घोषणा कर दी थी। लेकिन एक अक्टूबर से उन्होंने फिर से काम के घण्टे 12 कर दिये जिससे मज़दूर भड़क उठे। विरोध करने पर सुपरवाइज़र ने कह दिया कि जिसे 12 घण्टे काम करना है वे रुकें, बाक़ी बाहर चले जायें। आन्दोलन की शुरुआत एकदम स्वत:स्फूर्त ढंग से बिना किसी तैयारी के हुई थी। एक तारीख़ से छिटपुट कामबन्दी शुरू हो गयी थी लेकिन 3 अक्टूबर से इसने ज़ोर पकड़ लिया। एक फ़ैक्टरी में काम पूरी तरह बन्द हो गया, बाकी 4 में भी धीरे-धीरे असर फैल रहा था। मज़दूरों के बुलावे पर गोरखपुर से संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा की ओर से तपीश मैंदोला और उदयभान के रामनगर पहुँचने के बाद से आन्दोलन ने गति पकड़ ली और चार कारख़ानों में काम पूरी तरह बन्द हो गया। एक अन्य कारख़ाने के भी करीब आधे मज़दूर आन्दोलन के साथ आ गये। नीलकमल मिल के गेट पर रोज़ मज़दूरों की मीटिंग होनी शुरू हो गयी। कारख़ाना कमेटियों का गठन किया गया और आन्दोलन को संगठित रूप देने तथा मज़दूरों द्वारा आपस में जनवादी तरीके से तालमेल एवं फ़ैसले लेने के तौर-तरीके लागू करने की कोशिशें शुरू की गयीं। हालाँकि कारख़ानों में काम बन्द होते ही पड़ोसी ज़िलों तथा बिहार से आकर काम करने वाले मज़दूरों की अच्छी-ख़ासी संख्या घर चली गयी थी, फिर भी फ़ैक्टरी गेट पर रोज़ 300-400 मज़दूर इकट्ठा होते थे। 6 अक्टूबर को करीब 400 मज़दूरों ने प्रदर्शन करके श्रम प्रवर्तन अधिकारी को ज्ञापन दिया जिसमें न्यूनतम मज़दूरी और काम के घण्टे 8 करने की माँगें मुख्य थीं।

दूसरी तरफ़ आन्दोलन को संगठित रूप लेते देख इलाक़े के सारे उद्योगपति एकजुट होकर इसे तोड़ने की कोशिशों में जुट गये। वैसे तो गोरखपुर के संगठनकर्ताओं के पहुँचने से पहले ही स्थानीय अख़बारों में ऐसे बयान छपने लगे थे कि यह आन्दोलन "बाहरी तत्वों" की शह पर चलाया जा रहा है, लेकिन बाद में यह सिलसिला और तेज़ हो गया। उद्योगपतियों ने ज़िलाधिकारी और मण्डलायुक्त से मिलकर शिकायत की कि इस आन्दोलन के पीछे "अस्थिरता फैलाने की साज़िश" है, आदि-आदि।

ध्यान देने की बात है कि यह पूरा क्षेत्र बेहद पिछड़ा हुआ है। ज़िला मुख्यालय चन्दौली यहाँ से काफ़ी दूर है। ज़िला मुख्यालय पहुँचने में मज़दूरों को कम से कम एक घण्टा लग जाता है। कमिश्नर कार्यालय वाराणसी में है और अख़बारों, टीवी चैनलों आदि के कार्यालय भी वहीं हैं। स्थानीय स्तर पर जो पत्रकार हैं वे प्राय: मालिकों के दलाल की भूमिका निभाते हैं। बनारस भी यहाँ से एक घण्टे की दूरी पर है। मालिकों के लिए अपनी गाड़ियों में तेजी से दोनों जगह पहुँच जाना मुश्किल नहीं है, मगर प्रशासन के सामने अपनी शिकायतें रख पाना मज़दूरों के लिए बेहद कठिन है। क्षेत्रीय उद्योगपतियों के संगठन के प्रमुख आर.के. चौधरी का यहाँ इस कदर दबदबा क़ायम है कि अगर कभी किसी कम्पनी ने यहाँ 8 घण्टे काम का नियम लागू किया और मज़दूरों को कुछ बेहतर वेतन दिया तो किसी-न-किसी तरह उसे बन्द करवा दिया गया। इनके मज़दूर विरोधी रवैये का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि इलाक़े के एकमात्र सिनेमा हाल को इन्होंने यह कहकर बन्द करवा दिया कि मज़दूर अगर पिक्चर देखेगा, तो काम क्या करेगा।

फ़ैक्टरी एरिया से लगे पटनवा, गोरखपुर, देवरिया आदि गाँवों में यहाँ के ज़्यादातर मज़दूर रहते हैं। करीब 2 किमी. दूर मिर्ज़ापुर ज़िले की सीमा है, उधर के कुछ गाँवों की भी अच्छी-ख़ासी आबादी इधर काम करने आती है। मालिकों के इशारे पर इनमें से कुछ गाँवों के मुखियाओं ने मीटिंग करके ऐसी बातें फैलानी शुरू कर दीं कि बाहरी नेताओं को हटाया जाये। गाँवों में स्थानीय और बाहरी मज़दूरों का भेद पैदा करके फूट डालने की कोशिश भी शुरू हो गयी। लेकिन मज़दूर एकजुट रहे।

इसके साथ ही तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के नेता भी अपनी-अपनी रोटी सेंकने के लिए लगातार मज़दूरों के पास पहुँच रहे थे और तरह-तरह से आश्वासन दे रहे थे। मालिकों के दलाल कुछ मज़दूरों को ललचाकर तोड़ने-फोड़ने के काम में जुटे हुए थे। चूँकि यह आन्दोलन एकदम स्वत:स्फूर्त ढंग से शुरू हुआ था और मज़दूरों के बीच संगठनबद्धता और आपसी तालमेल की अब भी कमी थी, इसलिए मालिकों को इन कोशिशों में कुछ कामयाबी भी मिल गयी। इसी का फ़ायदा उठाकर वे पुलिस की मदद से 11 अक्टूबर को जबरन एक समझौता करवाकर आन्दोलन ख़त्म कराने में सफल हो गये।

इलाक़े का थानेदार सपा शासन में मुलायम सिंह यादव का ख़ास रहा बताया जाता है और एनकाउण्टर स्पेशलिस्ट के रूप में कुख्यात है। 11 अक्टूबर को वह अचानक पुलिस फोर्स के साथ फ़ैक्टरी गेट पर पहुँचा और बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों को जीप में बैठाकर कुछ दूर ले गया। उसके बाद उसने फैक्ट्री गेट पर मिल मालिकों को बुलाकर आनन-फानन में मज़दूरों के सामने समझौते की घोषणा करा दी। इसके अनुसार मज़दूरों की मज़दूरी 10 प्रतिशत बढ़ायी जायेगी और सभी मज़दूरों को कम्पनी का आई-कार्ड दिया जायेगा। तालमेल की कमी और नेताओं की गैर-मौजूदगी से फैले भ्रम तथा पुलिसिया आतंक के कारण अधिकांश मज़दूर तो उसी समय फ़ैक्टरी में चले गये लेकिन करीब 60-70 मज़दूर डटे रहे। मजबूरन पुलिस को 'बिगुल' के साथियों को वापस लेकर आना पड़ा। मज़दूरों के बीच यह फ़ैसला किया गया कि फ़िलहाल यहाँ की स्थिति में इस समझौते को मानकर आन्दोलन समाप्त करने के सिवा कोई चारा नहीं है। अब पूरी तैयारी के बाद संगठित तरीके से संघर्ष छेड़ना होगा। मालिकान साम-दाम-दण्ड-भेद से किसी तरह मज़दूरों को झुकाने में कामयाब हो गये लेकिन इस हार से मिले सबकों से सीखकर मज़दूरों ने भविष्य की निर्णायक लड़ाई के लिए कमर कसकर तैयारी शुरू कर दी है।

जब एक हारी हुई लड़ाई ने जगाई मज़दूरों में उम्मीद और हौसले की लौ...

दिल्ली के उत्तर-पश्चिम ज़िले के इलाक़े शाहाबाद डेयरी में एक छोटी-सी फ़ैक्ट्री 'पायल एम्ब्रायडरी' के 14 मज़दूरों ने पिछले दिनों अपने हक़ के लिए एक सप्ताह तक बेहद जुझारू आन्दोलन चलाया। इन मज़दूरों को 2 अक्टूबर को अचानक फ़ैक्टरी से निकाल दिया गया था और फ़ैक्टरी मालिक इनका कोई भी क़ानूनी हक़ देने के लिए तैयार नहीं था। मज़दूर 5 अक्टूबर से 10 अक्टूबर तक सुबह साढ़े सात से रात साढ़े आठ बजे तक रोज़ फ़ैक्टरी गेट पर धरने पर बैठते रहे। उन्होंने पुलिस से लेकर श्रम विभाग के अधिकारियों तक अपनी बात पहुँचायी, लेकिन आख़िरकार उन्हें हारकर अपने जायज़ हक़ से बहुत कम पर समझौता करना पड़ा।

इस छोटे से संघर्ष ने ही यह दिखा दिया कि हमारे देश में लोकतन्त्र की असलियत क्या है! मज़दूरों को उनके हक़ से वंचित करने के लिए मिल मालिक ने साम-दाम-दण्ड-भेद की हर चाल चली। पहले ही दिन जब 4 अक्टूबर की शाम को मज़दूर आन्दोलन की नोटिस देने के लिए शाहाबाद डेयरी थाने में गये तो मालिक के इशारे पर वहाँ पहले से तैयार पुलिस वालों ने उन पर हमला किया और सभी मज़दूरों तथा साथ गये 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के दो साथियों को बुरी तरह पीटा। लेकिन जब मज़दूर अपनी बात पर अड़े रहे तो आख़िरकार पुलिस को नोटिस स्वीकार करना पड़ा। इसके बाद भी लगभग हर दिन धरना स्थल पर पुलिस के लोग आकर मज़दूरों को डराने-धमकाने की कोशिश करते थे, लेकिन मज़दूरों की एकजुटता के आगे उनकी एक न चली। मज़दूरों ने 5 अक्टूबर को धरने पर बैठने से पहले ही डी.एल.सी. कार्यालय में ज्ञापन देकर सारी स्थिति से उन्हें अवगत करा दिया था लेकिन श्रम विभाग के अधिकारी केवल काग़ज़ी कार्रवाई ही करते रहे। 8 अक्टूबर को उपश्रमायुक्त (डीएलसी) के कार्यालय में मालिक के साथ वार्ता रखी गयी थी, लेकिन मालिक ने चिट्ठी भिजवा दी कि ये मज़दूर उसके कर्मचारी ही नहीं हैं, जबकि ये मज़दूर 3 से 6 साल तक से उस मालिक के लिए काम रहे हैं। इन मज़दूरों की कमरतोड़ मेहनत के दम पर मालिक ने करोड़ों का मुनाफ़ा बटोरा है, लेकिन मज़दूरों को उनका थोड़ा-सा जायज़ हक़ देने से बचने के लिए उसने एक मिनट में उन्हें दूध से मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया।

शाहाबाद और बादली सहित दिल्ली के तमाम औद्योगिक क्षेत्रों के मज़दूरों के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। ज़्यादातर कारख़ानों में न तो मज़दूरों को जॉबकार्ड मिलता है, न ही वेतन या ईएसआई की पर्ची मिलती है। उनके पास कारख़ाने में काम करने का कोई सबूत ही नहीं होता। ऐसे में अन्धा क़ानून उन्हें मज़दूर मानने से ही इन्कार कर देता है। फिर भी मज़दूरों ने अपने जुझारू तेवरों से मालिक को बौखला दिया था। डीएलसी कार्यालय को भी कार्रवाई के लिए मजबूर होना पड़ा।

निकाले गये मज़दूरों सहित फ़ैक्टरी के कुल 30 मज़दूरों ने फ़ैक्टरी में श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के लिए जनरल चेकिंग का आवेदन दिया था जिस पर डीएलसी की ओर से चेकिंग होने वाली थी। इस चेकिंग में डीएलसी की ओर से इंस्पेक्टरों की टीम छापा मारकर जाँच करती है कि कारख़ाने में श्रम क़ानूनों का पालन किया जा रहा है या नहीं। लेकिन इस बीच घबराये हुए मालिक ने मज़दूरों को बहकाने-फुसलाने और लालच देकर तोड़ने के लिए अपने मैनेजर, चमचों और कुछ दलाल नेताओं के ज़रिये पूरा ज़ोर लगा दिया। 10 अक्टूबर को जब मज़दूर भूख हड़ताल शुरू करने की तैयारी कर रहे थे, उसी दिन मालिक आख़िरकार दो मज़दूरों को फोड़ लेने में कामयाब हो गया। इसका असर अन्य मज़दूरों पर भी पड़ा और उन्हें डेढ़-डेढ़ महीने की तनख़्वाह और एक महीने से कुछ कम के बोनस पर समझौता करना पड़ा। जबकि उसे एक महीने के काम के पूरे भुगतान के अलावा कम से कम तीन महीने की तनख़्वाह और एक महीने की तनख़्वाह के बराबर सालभर का बोनस देना था।

मज़दूरों को पैसेवालों की ताक़त के आगे फ़िलहाल हार का सामना करना पड़ा है, लेकिन 6 दिन की इस छोटी-सी लड़ाई ने उन्हें कई ज़रूरी सबक़ दिये हैं। पहला सबक़ यह है कि मज़दूर अगर एकजुट रहें, दलालों और भ्रष्ट नेताओं के बहकावे में न आयें, और गुण्डों या पुलिस की धमकियों से डरें नहीं, तो उन्हें कोई झुका नहीं सकता। दूसरा सबक़ यह कि तमाम लुटेरे मालिक फ़ौरन मज़दूरों के ख़िलाफ़ एकजुट हो जाते हैं जबकि अपने लड़ रहे मज़दूर साथियों के साथ खड़ा होने के लिए दूसरे मज़दूर सामने नहीं आते। इस स्थिति को बदलना होगा। आज मज़दूरों के बीच आतंक और असुरक्षा फैली हुई है, उन्हें कोई जुझारू और भरोसेमन्द नेतृत्व दिखायी नहीं पड़ता, इसलिए भी वे आगे आने से डरते हैं। लेकिन इन 6 दिनों में ही मुट्ठीभर मज़दूरों ने बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों के साथ मिलकर जिस बहादुरी से संघर्ष किया उसने आसपास के मज़दूरों का हौसला बढ़ाने का काम किया है। आन्दोलन के दौरान फ़ैक्टरी के भीतर काम कर रहे मज़दूर न सिर्फ़ मज़दूरों के समर्थन में जमकर नारे लगाते थे, बल्कि सुबह-शाम धरना-स्थल पर आकर सभाओं में भी शामिल होते थे। उनके दिल से मालिक का ख़ौफ़ अब निकल चुका है और यह तय है कि अब किसी मज़दूर का हक़ मारने से पहले मालिक भजनलाल गाबरा सौ बार सोचेगा। इस हार के बावजूद पायल एम्ब्रोयडरी के मज़दूर साथी जोश से भरे हुए हैं और सबने यह संकल्प लिया है कि आगे जहाँ भी काम करेंगे मज़दूरों के हक़ के लिए संघर्ष करते रहेंगे। यह मज़दूरों की बहुत बड़ी जीत है।

– बिगुल संवाददाता

कोरबा के मज़दूरों की मौत हादसा नहीं, हत्या है!!

गत 23 सितम्बर, बुधवार के दिन छत्तीसगढ़ के कोरबा ज़िले में स्थित भारत एल्यूमीनियम कम्पनी लिमिटेड (बालको) के निर्माणाधीन विद्युत संयन्त्र की चिमनी ढह जाने के कारण कम से कम 41 मज़दूरों की मौत हो गयी। जबकि कई अन्य मज़दूरों के भी मलबे में दबे होने की आशंका जतायी जा रही थी। प्लाण्ट पर निर्माण कार्य के दौरान मज़दूर जब चिमनी में काम कर रहे थे तभी चिमनी अचानक ढह गयी और मज़दूर इसके नीचे दब गये। जिस वक़्त यह दुर्घटना हुई, उस समय चिमनी के पास लगभग 300 मज़दूर काम कर रहे थे, इसलिए कहना मुश्किल है कि कितने ही बेगुनाह मज़दूरों की लाशें अभी मलबे के इस ढेर के नीचे दफ़्न है। बालको के 1200 मेगावॉट के विद्युत संयन्त्र में ठेका कम्पनी सेफ़को चिमनी निर्माण का काम देख रही थी और सेफ़को ने यह काम एक अन्य ठेका कम्पनी जी. डी.सी.एल. को सौंप रखा था। दुर्घटना के समय इन दोनों ही कम्पनियों और बालको के अधिकारी घटना-स्थल पर मौजूद थे जो हादसा होते ही वहाँ से फ़रार हो गये। खानापूर्ति के लिए पुलिस ने बालको प्रबन्धन और ठेका कम्पनियों के ख़िलाफ़ ग़ैर-इरादतन हत्या का मामला तो दर्ज कर दिया है, हालाँकि अभी तक किसी भी अधिकारी की गिरफ़्तारी नहीं हुई है। बताने की ज़रूरत नहीं कि इस मामले का भी वही हश्र होना है जो ऐसे सब मामलों का होता रहा है।

कोरबा की घटना कोई इकलौती घटना नहीं है। मज़दूर जिन अमानवीय नारकीय परिस्थितियों में काम करने के लिए मजबूर होते हैं, उनमें आये दिन ऐसी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। साथ ही, मज़दूरों को कई स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमारियों का भी शिकार होना पड़ता है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ पूरी दुनिया में हर साल काम के दौरान होने वाली औद्योगिक दुर्घटनाओं में लगभग 24 लाख मज़दूर मर जाते हैं। अभी ज़्यादा वक़्त नहीं हुआ है दिल्ली मेट्रो रेल के जमरूदपुर स्थित निर्माण स्थल की घटना को जिसमें एक पिलर के गिर जाने से 6 मज़दूरों को अपनी जान गँवानी पड़ी। राजधानी के बादली औद्योगिक क्षेत्र की फ़ैक्ट्रियाँ तो मज़दूरों के लिए मौत के कारख़ाने ही बन चुकी हैं। पिछले चन्द महीनों में इस क्षेत्र में दुर्घटना में हुई मौतों की संख्या ही 6 के आसपास है। क्या इन सभी दुर्घटनाओं को हादसा कहना सही होगा? क्या ये महज़ लापरवाही के कारण होने वाली मौतें हैं? नहीं! ये हादसे नहीं हत्याएँ हैं! यह सोचने वाली बात है कि हमेशा मज़दूर जहाँ रहते और काम करते हैं, वहीं सब हादसे होते हैं! बड़ी-बड़ी कम्पनियों के मालिकों और ठेकेदारों के आलीशान बंगले और एयर-कण्डीशण्ड चैम्बर तो कभी नहीं गिरते, कभी किसी हादसे का शिकार नहीं होते!

साफ़-साफ़ शब्दों में कहें तो इन तमाम दुर्घटनाओं के पीछे की असल वजह मालिकों की मुनाफ़े की अन्धी हवस है। मुनाफ़े की इसी अन्धी हवस के चलते मालिक सारे श्रम क़ानूनों और सुरक्षा मानदण्डों को ताक पर रखते हैं। अपनी तिजोरियाँ वे मज़दूरों का ख़ून-पसीना निचोड़कर और हड्डियाँ गलाकर भरते हैं। दरअसल ऐशो-आराम के तमाम साधन, बड़े-बड़े चमकदार मॉल-मल्टीप्लेक्स और जगमगाती ऊँची-ऊँची इमारतें खड़ी ही मज़दूरों की लाशों पर की जाती हैं। मुनाफ़े के इस तन्त्र में सब कुछ महँगा होता है, सिवाय मज़दूरों की मेहनत और उनकी ज़िन्दगी के। कोरबा के मज़दूरों की मौत ने इसी बात को सच साबित किया है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि हर उस मामले की तरह जो मज़दूरों की ज़िन्दगी और उनकी मौत से जुड़ा होता है, इस मामले को भी प्रशासन जल्द से जल्द रफ़ा-दफ़ा कराने की फ़िराक़ में है।

चूँकि इस व्यवस्था के खाने के दाँत और हैं और दिखाने के कुछ और, नौटंकी के तौर पर राज्य सरकार एवं श्रम मन्त्रालय मज़दूरों की मौत पर काफ़ी घडियाली आँसू बहा रहे हैं और मज़दूरों की हिफ़ाज़त का दम भर रहे हैं। बालको प्रबन्धन भी मारे गये मज़दूरों के परिवारों को मुआवज़ा देने की बात कर रहा है। हममें से शायद ही ऐसा कोई हो जो पूँजीपति-प्रशासन-ठेकेदार के अपवित्र गँठजोड़ की इन घिनौनी चालों और चालाकियों की असलियत से वाक़िफ़ न हो। इस व्यवस्था और इसके चौकीदारों की पक्षधरता इसी बात से पता चल जाती है कि जब इस देश के किसी राज्य के मुख्यमन्त्री की दुर्घटना में मौत हो जाती है तो इस व्यवस्था का हरेक स्तम्भ शोक के सागर में डूब जाता है। अख़बार और मीडिया कई-कई दिनों तक इससे जुड़ी ख़बरों को छापते हैं, वह भी पहले पन्ने पर। वहीं जब इतने सारे बेगुनाह मज़दूर अपनी जान गँवा देते है, तो यही मीडिया, बड़ी बेशर्मी के साथ पूरे मामले पर चुप्पी साधे बैठ जाती है। साफ़ है कि यह व्यवस्था, यह समाज, यह दुनिया हमारी नहीं है और जो हमारा होगा उसे हासिल करने के लिए हमें आज से ही अपनी कमर कसनी होगी। एक इन्सान के क़ाबिल ज़िन्दगी जीने के अपने बुनियादी हक़ को हासिल करने के लिए हमें आज से ही अपनी लड़ाई छेड़ देनी होगी और इसके लिए एकजुट और संगठित होना होगा।

- शिवानी

जाँच समितियाँ नहीं बतायेंगी खजूरी स्कूल हादसे के असली कारण

बिगुल संवाददाता

उत्तर-पूर्वी दिल्ली के खजूरी ख़ास इलाक़े के राजकीय उच्चतर-माध्यमिक विद्यालय में पिछले 10 सितम्बर को हुए हादसे में छह छात्राओं की मौत हमें उस हादसे के वास्तविक कारणों पर सोचने को मजबूर करती है। सरकार और मीडिया भले ही इस हादसे को संयोग साबित करने की कोशिश करें, लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे "संयोग" प्राइवेट या पब्लिक स्कूलों में नहीं होते। डीपीएस या मॉडर्न स्कूल में ऐसी भगदड़ नहीं होती, न ही उनमें पढ़ने वाले बच्चे इस तरह मरते हैं।

आपको याद होगा कि इस हादसे के बाद आनन-फ़ानन में मुख्यमन्त्री शीला दीक्षित ने स्कूल का दौरा करके घटनास्थल पर ही मृतकों के लिए एक लाख रुपये और घायलों को 50,000 रुपये देने की घोषणा करके और एक उच्चस्तरीय जाँच समिति गठित करके अपनी "ज़िम्मेदारी" का निर्वहन कर दिया था। उसके बाद, जैसा कि उम्मीद थी, जाँच कमेटी और डॉक्टरी जाँच की रिपोर्ट में खुलासा किया गया कि इस भगदड़ का एकमात्र कारण अध्यापक एवं प्रशासनिक अधिकारियों की लापरवाही था। बस फिर क्या था, रस्म-अदायगी करते हुए विद्यालय के प्रधानाचार्य और दो शिक्षा अधिकारियों को निलम्बित कर दिया गया। इसके बाद सरकार और उसी की बोली बोलने वाली मीडिया ने इसे संयोग साबित करने का प्रयास किया। कुछ हो-हल्ला हुआ और अब मामला लगभग ठण्डे बस्ते में डाला जा चुका है।

वैसे, केवल दिल्ली में नहीं बल्कि, पूरे देश में सरकारी स्कूलों और पूरी शिक्षा व्यवस्था की स्थिति दयनीय है। दिल्ली की ही बात की जाये तो दिल्ली में स्कूल जाने वाले 140 लाख बच्चों में 15 बच्चे स्कूल जा ही नहीं पाते हैं। जितने पहली कक्षा में दाख़िल होते हैं, उनमें से 86 प्रतिशत बच्चे दसवीं तक नहीं पहुँच पाते। 30 प्रतिशत बच्चे पाँचवीं तक स्कूल छोड़ देते हैं। मात्र 4 प्रतिशत बच्चे ही दसवीं पास कर पाते हैं। दिल्ली की स्थिति से पूरे देश की स्थिति का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। कहने को तो, संविधान के अनुसार आज़ादी के दस सालों के भीतर ही पूरे देश में शिक्षा मुहैया करायी जानी थी, लेकिन हक़ीक़त से आप और हम अच्छी तरह वाकिफ़ हैं। यह और बात है कि सरकार ने शिक्षा के अधिकार का क़ानून बनाया है, लेकिन सब जानते हैं कि ऐसे क़ानूनों-विधेयकों का नतीजा ढाक के वही तीन पात रहता है।

जिस देश में बिजली, पानी, सड़क, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी दुरुस्त नहीं हैं, वहाँ सरकारी स्कूलों की क्या स्थिति होगी इसका अनुमान किया जा सकता है। वैसे भी सरकारी स्कूलों से मुनाफ़ा नहीं होता, और जिस व्यवस्था की चालक शक्ति ही मुनाफ़ा हो, वहाँ इंसान की ज़िन्दगी के प्रति संवेदनशीलता की उम्मीद बेमानी है और अन्य बुनियादी सुविधाओं से अलग केवल शिक्षा की स्थिति सुधरने की आशा करना खुद को भ्रम में रखना है। खजूरी ख़ास का हादसा हो या कोरबा में तक़रीबन पचास मज़दूरों की मौत का मामला; ग़रीबों से जुड़े मामले होने के कारण मीडिया और शासन-प्रशासन थोड़ी बहुत रस्म-अदायगी करने के बाद चुप्पी लगा लेते हैं। दूसरी ओर, जेसिका लाल या सौम्या विश्वनाथन की हत्या का मामला हो या एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के बच्चे के अपहरण का मामला, इनमें मीडिया और प्रशासन आसमान सिर पर उठा लेते हैं। इन सब स्थितियों में हर संवेदनशील नागरिक का फ़र्ज़ है कि वह इन हादसों की तह तक जाये और अमीरों के तलवे चाटने वाली सरकारों तथा मीडिया की हक़ीक़त से खुद वाक़िफ़ हो और इस पर गम्भीरता से सोचे कि क्या वाक़ई यह हम ग़रीबों का नसीब है या इसके कारण इस मानवद्रोही व्यवस्था में निहित हैं।

दिल्ली नगर निगम यानी एमसीडी द्वारा संचालित लगभग 1746 स्कूलों में से 1628 में आग लगने की स्थिति में सुरक्षा के बन्दोबस्त नहीं हैं। 70 प्रतिशत स्कूलों में पीने के पानी और शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं है। ज़्यादातर स्कूलों में प्रति 100 से अधिक छात्रों पर 1 अध्यापक है, बहुतेरे स्कूलों के पास कोई बिल्डिंग भी नहीं है और वे टेण्टो में चल रहे हैं। जिस विद्यालय में यह घटना हुई उसमें भी उस दिन क़रीब 2600 विद्यार्थी थे। स्कूल के टिन शेड में पानी भर गया था। साथ ही ग्राउण्ड भी पानी से भरा था। बाहर निकलने का केवल एक ही गेट था जिस तक पहुँचने के लिए 2600 बच्चों को 4-5 फुट चौड़ी सीढ़ियों से उतरकर जाना था ऐसे में आज नहीं तो कल यह घटना होनी ही थी।

दिल्ली मेट्रो फ़ीडर के चालकों-परिचालकों की सफल हड़ताल

बिगुल संवाददाता

बिगुल के पिछले अंकों में दिल्ली मेट्रो रेल तथा उसकी ठेका कम्पनियों द्वारा श्रम क़ानूनों के उल्लंघन और नंगे शोषण की रिपोर्ट छपती रही है। मज़दूर- कर्मचारी भी अपने ऊपर हो रहे शोषण के ख़िलाफ़ आठ महीनों से 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' के बैनर तले एकजुट होकर समय-समय पर अपने जायज क़ानूनी हक़ों को लेकर आन्दोलन करते आ रहे हैं। इसी कड़ी में पिछले दिनों मेट्रो फ़ीडर बस के चालकों- परिचालकों ने राजस्थान बाम्बे ट्रांसपोर्ट (आर.बी.टी.) तथा डी.एम.आर.सी. के ख़िलाफ़ अनिश्चितकालीन हड़ताल करने का फ़ैसला किया। हड़ताल की मुख्य माँगें थीं – 1. बुनियादी श्रम क़ानून लागू किए जायें जैसे आई कार्ड, ईएसआई, पीएफ आदि, 2. समय पर वेतन-वृद्धि की जाये, 3. ओवरटाइम डबल रेट से दिया जाये, 4. आर.बी.टी. द्वारा शोषण-उत्पीड़न बन्द किया जाये, 5. सभी ठेका मज़दूरों को स्थायी किया जाये।

इसी दौरान हड़ताल से पहले पता चला कि डी.एम.आर.सी. द्वारा आर.बी.टी. कम्पनी का ठेका रद्द किया जा रहा है। ऐसे में कर्मचारियों ने हड़ताल में अपनी सिक्योरिटी राशि वापस करने की माँग को मुख्य मुद्दा बनाया। तब 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' ने हड़ताल का आह्वान करते हुए हड़ताल-स्थल पर एकजुट होने के पर्चे 19 व 20 सितम्बर को सभी मेट्रो स्टेशनों पर बाँटे।

21 सितम्बर 2009 को मेट्रो स्टेशन द्वारका सेक्टर 9 पर हड़ताल शुरू की गयी। मेट्रो फ़ीडर की इस हड़ताल का नेतृत्व तेज़बीर कर रहे थे। जिन्हें कम्पनी मज़दूरों की हक़ की आवाज़ उठाने के लिए प्रताड़ित करती रही है। द्वारका सेक्टर 9 पर पहले दिन ही क़रीबन 100-150 चालकों-परिचालकों ने एकजुट होकर अपनी ताक़त का प्रदर्शन किया। हड़ताल के दिन मेट्रो फ़ीडर बस के 14 में से 8 रूट बन्द रहे। बचे 6 रूटों पर कम्पनी के गुर्गों ने डरा-धमकाकर कर्मचारियों से बसें चलवायीं।

'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' ने घोषणा की कि जब तक कर्मचारियों की जायज़ माँगें पूरी नहीं हो जाती तब तक अनिश्चितकालीन हड़ताल जारी रहेगी। मेट्रो फ़ीडर की इस हड़ताल को प्रिण्ट व इलेक्ट्रानिक मीडिया ने भी कवर किया। मीडिया में ख़बरें आने के बाद डी.एम.आर.सी. अपनी जान बचाने के लिए कर्मचारियों पर पुलिस प्रशासन से दबाव डलवाने लगा और 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' को लांछित और बदनाम करने की पुरज़ोर कोशिश करने लगा। परन्तु मेट्रो फ़ीडर के चालकों-परिचालकों की अटूट एकजुटता और एकता के आगे ये तमाम चालबाज़ियाँ और हथकण्डे धरे के धरे रह गये।

हड़ताल के तीसरे दिन डी.एम.आर.सी. व आर.बी.टी. को झुकना पड़ा। उसी शाम को छह बजे कर्मचारियों व कम्पनी के बीच बातचीत शुरू हुई। कर्मचारियों ने प्रबन्धन को लिखित माँगपत्र सौंपा। लेकिन आर.बी.टी. के प्रबन्धक हरीश लखोटिया ने जुबानी आश्वासन देते हुए कर्मचारियों की माँगों को पूरा करने का आश्वासन दिया। इस पर कर्मचारियों ने आर.बी.टी. से कहा कि सभी माँगों को लिखित में स्वीकार किया जाये। जिस पर आर.बी.टी. और डी.एम.आर.सी. टालमटोल करने लगे। इस पर कर्मचारियों ने समझौता रद्द कर दिया और कम्पनी को अगले दिन 11 बजे तक अपने फ़ैसले पर पुनर्विचार करने का समय दे दिया।

हड़ताल के चौथे दिन आर.बी.टी. और डी.एम.आर.सी. ने कर्मचारियों का मनोबल तोड़ने के लिए एक वकील को बुलाया। वकील ने क़ानूनी भाषा का जाल बुनकर कर्मचारियों को चुपचाप काम पर वापस आने की धमकी दी लेकिन कर्मचारियों के पक्ष में बिगुल संवाददाता अभिनव ने जब कर्मचारियों के श्रम क़ानूनों के उल्लंघन तथा उसके ज़िम्मेदार डी.एम.आर.सी. और आर.बी.टी. को कटघरे में खड़ा किया तो वकील और डी.एम.आर.सी. के अधिकारी चुप्पी साध गये। इस बैठक में भी समझौता न होता देख कर्मचारी अपनी माँगों पर अड़े रहे!

देर शाम तक डी.एम.आर.सी. और आर.बी.टी. यह समझ चुके थे कि कर्मचारियों को इस आन्दोलन में तोड़ना मुश्किल है! ऐसे में उसने कर्मचारियों के माँगपत्र की मुख्य बातों पर लिखित समझौता तैयार किया।

इस चार दिवसीय एकजुटता और सफल हड़ताल ने डी.एम.आर.सी. और आर.बी.टी. के घुटने टिकवा दिये। इस संघर्षपूर्ण हड़ताल में चालकों-परिचालकों ने क़ानूनी हक़ के रूप में वेतनवृद्धि (क्रमशः 500 व 1000 रुपये), पीएफ व ईएसआई जैसे हक़ हासिल किये तथा आर.बी.टी. की मनमानी बन्द हुई।

मेट्रो फ़ीडर की यह सफल हड़ताल मेट्रो रेल से जुड़े सभी सफ़ाईकर्मियों, मेण्टनेंस और निर्माण में लगे मज़दूरों के लिए सबक़ और प्रेरणा देती है कि यदि वे भी एकजुट और संकल्पबद्ध होकर लड़ें तो उन्हें भी क़ानून द्वारा प्रदत्त अधिकार हासिल हो सकते हैं।

इस हड़ताल के बाद 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' ने 'हड़ताल का सबक़' नाम से एक पर्चा निकाला और अपनी क़ानूनी लड़ाई को एक क़दम आगे बढ़ाते हुए 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' के बन जाने की घोषणा की। साथ ही मेट्रो के साथियों से कहा कि यह समय जीत के जश्न के साथ ही मेट्रो रेल के सभी मज़दूरों के हक़ों की लड़ाई की तैयारी में लग जाने का समय है।

नये संकल्पों और नयी शुरुआतों के साथ मना शहीदेआज़म भगतसिंह का जन्मदिवस

बादली में 'शहीद सप्ताह' का आयोजन तथा 'शहीद पुस्तकालय' का उद्घाटन

शहीद भगतसिंह के 102वें जन्मदिवस (28 सितम्बर) के अवसर पर नौजवान भारत सभा तथा बिगुल मज़दूर दस्ता की बादली इकाई ने 21-28 सितम्बर तक 'शहीद सप्ताह' मनाया। 21 सितम्बर को सुबह 7 बजे से साइकिल रैली निकाली गयी तथा शाहाबाद डेयरी की गलियों में नारे लगाते हुए, नुक्कड़ सभाएँ करते हुए लोगों को शहीदों के सपनों से परिचित करवाया गया। 'भगतसिंह को याद करेंगे, जुल्म नहीं बर्दाश्त करेंगे', 'भगतसिंह ने दी आवाज़, बदलो-बदलो देश समाज', 'भगतसिंह का ख़्वाब, इलेक्शन नहीं इन्क़लाब' आदि नारों से पूरा माहौल सरगर्म था। शाहाबाद डेयरी इलाक़े के कुछ मज़दूर साथी भी रैली में शामिल हो गये। इसके बाद कार्यकर्ता रैली के साथ राजा विहार, सूरजपार्क तथा आस-पास के इलाक़ों में पहुँचे तथा मज़दूरों व नौजवानों का आह्वान किया कि वे लोग भगतसिंह के बताये रास्ते पर चलकर ऐसा समाज बनाने के लिए लड़ने का संकल्प लें, जिसका सपना लेकर भगतसिंह और उनके साथी कुर्बान हो गये।

27 सितम्बर को 'नौजवान भारत सभा' की ओर से राजा विहार में 'शहीद पुस्तकालय' की शुरुआत की गयी तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की शुरुआत सामाजिक कार्यकर्ता मीनाक्षी ने शहीद भगतसिंह की फोटो पर माल्यार्पण करके की। इसके बाद नौजवान भारत सभा की टीम ने 'शहीदों के लिए...' गीत प्रस्तुत किया। साथी मीनाक्षी ने विस्तार से शहीदों के सपने, उन सपनों के पूरा न हो पाने की वजहों तथा उन्हें पूरा करने के लिए क्या करना होगा, इस पर चर्चा की। कार्यक्रम के दौरान पोस्टर प्रदर्शनी तथा पुस्तक प्रदर्शनी भी लगायी गयी। मज़दूरों तथा प्रतिनिधियों ने भी अपनी-अपनी बातें रखीं।

नौजवान भारत सभा, बादली के संयोजक रूपेश ने मज़दूर बस्ती में पुस्तकालय के महत्त्व की चर्चा करते हुए बताया कि मज़दूरों को फिर से अपनी क्रान्तिकारी विरासत से परिचित होने के लिए तथा संघर्ष करने के लिए ज़िम्मेदारी के साथ पढ़ना भी होगा। मज़दूर साथियों को अध्ययन के लिए समय निकालना ही होगा, पर हर कोई किताबें ख़रीदकर नहीं पढ़ सकता है, अत: पुस्तकालय एक ऐसा मंच बन सकता है जहाँ मज़दूर तथा मज़दूरों के बच्चे आकर पढ़ें-लिखें।

कार्यक्रम का समापन 'तोड़ो ये दीवारें, भर दो अब ये गहरी खाई' गीत प्रस्तुत करके किया गया।

"शहीद भगतसिंह की विचारधारा और आज का समय" पर विचार गोष्ठी का आयोजन

कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना की तरफ़ से शहीद भगतसिंह की याद में उनके जन्मदिन से एक दिन पहले 27 सितम्बर को विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। लुधियाना की ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी में आयोजित विचार गोष्ठी का विषय था – "शहीद भगतसिंह की विचारधारा और आज का समय" और मुख्य वक्ता थे 'बिगुल' के सम्पादक साथी सुखविन्दर। इसमें मुख्य तौर पर कारख़ाना मज़दूरों ने भाग लिया।

सुखविन्दर ने कहा कि देश का शोषक हुक्मरान वर्ग जनता के सच्चे नायकों की यादों को पत्थर की मूर्तियों में बदल देना चाहता है। ऐसा ही शहीद भगतसिंह की याद के साथ किया जा रहा है। शहीद भगतसिंह के विचारों और जनता के दुश्मन वर्ग आज उनका नाम ग़लत अर्थों में ले रहे हैं। उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास के पन्ने पलटते हुए दिखाया कि शहीद भगतसिंह और उनके साथियों ने भारत में समाजवाद के निर्माण का सपना देखा और इसके लिए संघर्ष किया। उनका मानना था कि भारतीय मेहनतकश जनता की सच्ची आज़ादी समाजवाद में ही आ सकती है, सिर्फ़ अंग्रेज़ों से राजनीतिक आज़ादी हासिल कर लेने से जनता की हालत में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला। सुखविन्दर ने कहा कि आज आज़ाद भारत में भी मेहनतकश ग़रीबी, भुखमरी, बदहाली की ज़िन्दगी जी रहे हैं। जितने जुल्म अंग्रेज़ों ने भारतीय मेहनतकश जनता पर किये, उससे कहीं अधिक जुल्म भारतीय हुक्मरानों के शासन में किये गये हैं। उन्होंने कहा कि शहीद भगतसिंह के सपनों के समाज के निर्माण के पथ पर चलना ही शहीद भगतसिंह की कुर्बानी और विचारधारा को सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है।

इसके बाद ताज मोहम्मद, सिद्धेश्वर यादव, नरेन्दर, गोपाल, विजय, सुभाष आदि मज़दूर साथियों ने अपने-अपने विचार रखे, जिससे बेहद मूल्यवान विचार-चर्चा छिड़ी। मज़दूर साथियों ने ज़ोर दिया कि आज के हालात में संगठन के बिना गुज़ारा नहीं हो सकता और संगठन के पास ईमानदार और दृढ़ नेतृत्व होना चाहिए। मज़दूर साथियों ने कहा कि धार्मिक कट्टरता, जातिवाद और क्षेत्रवाद का संगठन में कोई स्थान नहीं हो सकता। ताज मोहम्मद और सिद्धेश्वर यादव ने अपने गीतों के ज़रिये शहीदे आज़म भगतसिंह को याद किया और श्रद्धांजलि अर्पित की। मंच संचालन की ज़िम्मेदारी राजविन्दर और लखविन्दर ने साझे तौर पर निभायी।

गोष्ठी के बाद कारख़ाना मज़दूर यूनियन की टोली ने कालोनी और आसपास के इलाक़े में शहीद भगतसिंह की राह पर चलने का आह्वान किया और पर्चा भी बाँटा।

नौजवान भारत सभा ने मनाया शहीदे आज़म भगतसिंह का जन्मदिन

शहीद भगतसिंह के जन्म दिन पर नौजवान भारत सभा की तरफ़ से गाँव पख्खोवाल (लुधियाना), गाँव आलोड़ (खन्ना), गाँव भादला (खन्ना) और मण्डी गोबिन्दगढ़ में नुक्कड़ सभाओं, झण्डा और मशाल जुलूस का आयोजन किया गया।

गाँव पख्खोवाल से बड़ी संख्या में नौजवान मशाल जुलूस में शामिल हुए। ज़ोरदार नारे बुलन्द करते हुए हाथों में मशालें लिये नौजवानों का काफ़िला गलियों से गुज़रा। मशाल जुलूस के दौरान गाँव में कई जगहों पर नुक्कड़ सभाएँ की गयीं। नौजवान भारत सभा, पंजाब के संयोजक परमिन्दर ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा कि शहीदेआज़म भगतसिंह की सोच की मशाल को जलाये रखना मौजूदा अँधेरे समय की माँग है। लोग आज भी गुलामी काट रहे हैं। ऐसे हालात में नौजवानों को अपने ज़मीर की आवाज़ सुननी होगी। नये इन्क़लाब की मशाल लेकर चलने को ही आज शहीद भगतसिंह को सच्चे अर्थों में श्रद्धांजलि कहा जा सकता है।

खन्ना के नज़दीक के गाँवों अलोड़ और भादले में नौजवानों ने 'शहीदे आज़म अमर रहे', 'अमर शहीदों का पैगाम, जारी रखना है संग्राम', आदि नारे लगाते हुए झण्डा मार्च किया। झण्डा मार्च के दौरान शहीदे आज़म की याद में जारी किया गया पर्चा भी बाँटा गया। दोनों ही गाँवों में भारी संख्या में जुटे लोगों के बीच नौजवान भारत सभा, अलोड़ की टीम द्वारा तैयार किया गया नुक्कड़ नाटक 'गड्डा' प्रस्तुत किया गया। जतिन्दर, सतनाम और वरिन्दर द्वारा 'मशालें लेकर चलना कि जब तक रात बाक़ी है', 'हिन्दवासियो रखना याद सानू किते दिलाँ चों ना भुला जाणा' गीत प्रस्तुत किये गये। अलोड़ और भादले के गाँववासियों को सम्बोधित करते हुए अजयपाल ने कहा कि भगतसिंह का लगाया 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा आज भी पूरे देश में गूँज रहा है। मास्टर गुरप्रीत ने कहा कि आज की नौजवान पीढ़ी को भगतसिंह से प्रेरणा और मार्गदर्शन लेते हुए समाज बदलने की राह अपनानी होगी। उन्होंने वरियाम सन्धु की लिखी शहीद भगतसिंह को समर्पित कविता 'शहीद का बुत' पेश की।

मण्डी गोबिन्दगढ़ में गलियों, मुहल्लों, बाज़ारों में नौजवान भारत सभा की टोली ने पर्चे बाँटते और नारे लगाते हुए शहीद भगतसिंह का सन्देश आम लोगों तक पहुँचाया। 28 सितम्बर को मण्डी गोबिन्दगढ़ और खन्ना में नौजवान भारत सभा की और से शहीद भगतसिंह को समर्पित पुस्तक प्रदर्शनियों का आयोजन किया गया।

यूपीए सरकार का सादगी ड्रामा

यूपीए सरकार ने इन दिनों जनता की नज़रों में धूल झोंकने के लिए एक नया शगूफा छोड़ा है। यूपीए की चेयरमैन सोनिया गांधी, वित्त मन्त्री प्रणव मुखर्जी और कांग्रेस के महासचिव राहुल गांधी इस बात का ज़ोर-शोर से प्रचार कर रहे हैं कि यूपीए के पदाधिकारी, सरकार के मन्त्री तथा सांसद अपने ख़र्चों में कटौती करें, सादगी भरा जीवन बितायें ताकि इससे जो पैसा बचे उसका इस्तेमाल सूखाग्रस्त इलाक़ों की जनता की मदद करने में किया जा सके।

विदेश मन्त्री एस एम कृष्णा तथा विदेश राज्य मन्त्री शशि थरूर पिछले लम्बे समय से दिल्ली के महँगे पाँच सितारा होटलों में रह रहे थे। लेकिन वित्तमन्त्री के अनुरोध पर उन्हें पाँच सितारा होटलों को छोड़कर सरकारी निवासों में डेरा डालना पड़ा। इन दोनों मन्त्रियों ने अपनी रिहाइश के सारे ख़र्च को सरकारी ख़ज़ाने से लेने की कोशिश भी की, लेकिन कई कारणों से जब वे इसमें कामयाब नहीं हो सके, तो इन दोनों महानुभावों ने अपने पाँच सितारा होटलों के अय्याशीपूर्ण रिहाइश को छोड़ने को, आम जनता के लिए की गयी कुर्बानी के रूप में पेश किया।

उधर सोनिया गांधी ने हवाई जहाज़ में महँगे बिज़नेस क्लास में सफ़र की बजाय सस्ते इकॉनमी क्लास में सफ़र करके और राहुल गांधी ने दिल्ली से लुधियाना तक का सफ़र हवाई की बजाय एअरकण्डीशण्ड शताब्दी ट्रेन में करके ख़ूब वाहवाही लूटी और इसे मीडिया में ख़ूब प्रचारित किया गया।

लुटेरे हुक्मरान हमेशा जनता की आँखों में धूल झोंकने में व्यस्त रहते हैं, क्योंकि शोषित-उत्पीड़ित जनता पर सिर्फ़ डण्डे के दम पर ही हुकूमत नहीं की जा सकती। इसलिए उसे मूर्ख बनाना, उसकी चेतना को कुन्द करना बहुत ज़रूरी होता है। और इस काम को अंजाम देती हैं – हुक्मरानों की राजनीतिक पार्टियाँ, उनका मीडिया और न्याय पालिका जो आम जनता के लिए दरअसल अन्याय पालिका ही होती है।

जनता को मूर्ख बनाने के लिए हुक्मरान समय-समय पर नये-नये शगूफे छोड़ते रहते हैं। कुछ साल पहले 'न्यायिक सक्रियता' की बहुत चर्चा हुई थी। कुछ भ्रष्ट अफ़सरों को अदालतों से सज़ा सुनाकर यह भ्रम पैदा करने की कोशिश की गयी थी कि अब देश से भ्रष्टाचार, अन्याय का नामो-निशान मिटा दिया जायेगा। लेकिन चन्द महीनों में ही 'न्यायिक सक्रियता' के इस गुब्बारे की हवा निकल गयी।

कुछ साल पहले ही तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त टीएन शेषन ने संसदीय चुनाव प्रक्रिया में व्याप्त भ्रष्टाचार के समूल नाश का झण्डा उठाया था। मीडिया में देश के 'प्रबुद्ध' मध्यवर्ग में इसकी ख़ूब चर्चा हुई। शेषन हमारे 'प्रबुद्ध' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के महानायक बन गये। लेकिन कुछ समय बाद ही न तो टी एन शेषन दिखायी दिये और न ही उनका झण्डा। शासक वर्ग इस तरह के और भी ड्रामे करता रहता है – मसलन भ्रष्टाचार मिटाओ ड्रामा, ग़रीबी हटाओ ड्रामा, बेरोज़गारी हटाओ ड्रामा आदि। और इन दिनों यह नया ड्रामा यानी सादगी ड्रामा।

और यूपीए सरकार के इस सादगी ड्रामे की पोल खुलने भी लगी है। कांग्रेस के युवा लेफ़्टीनेण्ट राहुल गांधी ने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में ज़ोर-शोर से इस बात की वकालत की थी कि 'जनता के' नेताओं को सादा जीवन बिताना चाहिए और इसे निजी उदाहरण से साबित करने के लिए उन्होंने दिल्ली से लुधियाना तक का सफ़र भी हवाई जहाज़ की बजाय ट्रेन में किया। लेकिन इसके कुछ दिनों बाद ही उन्होंने अपने तमिलनाडु दौरे पर 1 करोड़ से भी ज़्यादा रुपये उड़ा दिये।

उधर विदेश राज्य मन्त्री शशि थरूर ने हवाई जहाज़ की इकॉनमी क्लास में सफ़र करने का मज़ाक़ उड़ाते हुए इकॉनमी क्लास को मवेशी क्लास कहा। हालाँकि देश की आम ग़रीब और यहाँ तक कि मध्यवर्गीय जनता भी हवाई जहाज़ में सफ़र करने की सोच भी नहीं सकती। हवाई जहाज़ की इकॉनमी क्लास में भी अमीरजादे ही सफ़र कर सकते हैं।

अगर मन्त्री जी को उनके साथ सफ़र करना भी मवेशियों के साथ सफ़र करना लगता है तो देश की आम जनता से वह किस कदर नफरत करते होंगे, इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है।

और वैसे भी अभी तक जिन इकॉनमी क्लासों में राहुल गांधी ने सफ़र किया है, उनमें उनके लिए अगल-बगल की सीटें ख़ाली करवा दी गयी थीं। इस तरह उनका इकॉनमी क्लास का सफ़र बिज़नेस क्लास के सफ़र से भी ज़्यादा महँगा पड़ा। ज़ाहिर है कि इन नेताओं का उद्देश्य जनता के पैसे की क़िफ़ायत नहीं बल्कि इकॉनमी क्लास में सफ़र के बहाने मीडिया में प्रचार के ज़रिये वाहवाही लूटना है।

इस सादगी ड्रामा के सभी किरदार दरअसल भारतीय पूँजीपति वर्ग के सेवक हैं। पूँजीपति वर्ग देश की 80 फ़ीसदी जनता के ख़ून पसीने की कमाई लूटकर ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बिताता है और जनता की इस लूट का एक हिस्सा रिश्वत के रूप में अपने सेवकों को भी देता है।

जनता की लूट में से हिस्सा लेकर इन सेवकों की जमात भी इस कदर अय्याशी भरा जीवन बिताती है कि पुराने समय के राजा-महाराजा भी शरमा जायें। सांसदों-विधायकों को मिलने वाली तनख़्वाहें भले हज़ारों में हों, लेकिन इन्हें लाखों रुपये तरह-तरह के भत्ते के रूप में मिलते हैं। करोड़ों रुपये सालाना अपने चुनाव क्षेत्रों के 'विकास' के लिए मिलते हैं, जिसे ये नेता डकार जाते हैं। इनके बंगलों के रखरखाव तथा नौकरों की फ़ौज पर ही हर महीने लाखों रुपये ख़र्च होते हैं।

दरअसल हमारे यहाँ पूँजीवादी राजनीति एक बहुत ही मुनाफ़ादायी धन्धा है। इसमें निवेशित पूँजी पर मुनाफ़े की दर बहुत ज़्यादा होती है, इसलिए नेताओं की दिलचस्पी सिर्फ़ और सिर्फ़ धन इकट्ठा करने में ही रहती है।

देश के संसद और विधानसभाओं में पहुँचने वाले सभी करोड़पति, अरबपति हैं, तो ऐसे में इन नेताओं से सादगी की उम्मीर कैसे की जा सकती है।

पूँजीपतियों द्वारा की जा रही जनता की लूट पर पर्दा डालने के लिए ये नेता लोगों को मूर्ख बनाने की फिराक में रहते हैं। लेकिन जनता को हमेशा-हमेशा के लिए मूर्ख नहीं बनाया जा सकता। एक दिन शोषित-उत्पीड़ित जनता उठेगी और उस मंच को ही उखाड़ फेंकेगी, जिस पर देश के हुक्मरान तरह-तरह के ड्रामे करते रहते हैं।

– नमिता

सबसे बड़ा आतंकवाद है राजकीय आतंकवाद और वही है हर किस्म के आतंकवाद का मूल कारण

(पेज 1 से आगे)

है)। कश्मीर घाटी में पाकिस्तान समर्थित धार्मिक कट्टरपन्थी संगठनों के अतिरिक्त (उनकी सक्रियता की ज़मीन भी भारत सरकार की दमनकारी नीतियों ने ही तैयार की है) व्यापक आधार वाले सेक्युलर संगठन भी सक्रिय हैं, पर भारत सरकार की नज़रों में वे भी आतंकवादी हैं क्योंकि वे कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग उठाते हैं। 1951 में, नेहरू के शासन काल के दौरान तेलंगाना के जिस किसान संघर्ष का सेना द्वारा दमन किया गया था, वह आतंकवाद नहीं, बल्कि व्यापक जनसंघर्ष था। और तो और, छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के जुझारू मज़दूर नेता शंकर गुहा नियोगी पर भी केन्द्र और राज्य की तत्कालीन सरकारें और बुर्जुआ पार्टियाँ "आतंकवादी" का लेबल लगाती रहती थीं।

भारत में "वामपन्थी" उग्रवाद (जिसे प्राय: माओवाद या नक्सलवाद भी कहा जाता है) की परिघटना और उसके विरुद्ध राज्यसत्ता की सैन्य कार्रवाई के फ़ैसले को पूरे सामाजिक-आर्थिक ढाँचागत परिप्रेक्ष्य और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर ही समझा जा सकता है। यह पूरी तरह से पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का नतीजा है। चूँकि व्यवस्थागत संकट का क्रान्तिकारी समाधान प्रस्तुत करने वाली जनक्रान्ति की वाहक शक्तियाँ फ़िलहाल प्रभावी भूमिका निभाने में सक्षम नहीं हैं, चूँकि व्यापक जनसमुदाय के सामने विकास की नीतियों और सामाजिक राजनीतिक ढाँचे का कोई ऐसा विकल्प प्रभावी ढंग से प्रस्तुत नहीं हो पा रहा है, जो आमूलगामी रूप से भिन्न, सर्वसमावेशी और समतामूलक हो, इसलिए लगातार बढ़ते शोषण-उत्पीड़न की स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों, संघर्षों और "वामपन्थी" उग्रवाद की प्रवृत्तियों के रूप में सामने आ रही हैं। शासक वर्ग इन्हें बलपूर्वक दबाने की कोशिश करता है और उसकी इस कोशिश का लाज़िमी तौर पर उल्टा ही नतीजा सामने आता है। व्यवस्था के इस संकट को समझने के लिए मुख्यत: इसके चार आयामों पर निगाह डालनी होगी। इसका पहला आयाम है, 1947 के बाद देश में क़ायम पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा ग़रीबी-बेरोज़गारी जैसी जनता की तमाम बुनियादी समस्याओं को हल कर पाने में विफलता, बढ़ता भ्रष्टाचार, ग़रीबी-अमीरी के बीच लगातार बढ़ती खाई, संसदीय जनवादी व्यवस्था और सभी चुनावी पार्टियों की उतरती कलई तथा पूरी व्यवस्था से जनता का मोहभंग। इसका दूसरा आयाम है, समाज की ग़रीब, पिछड़ी और दलित आबादी, आदिवासियों और "परिधि" की राष्ट्रीयताओं के विरुद्ध लगातार जारी ढाँचागत हिंसा। इसका तीसरा आयाम है, निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को प्रभावी ढंग से अमल में लाने के लिए शासक वर्ग द्वारा एक निरंकुश दमनकारी राज्यसत्ता की अपरिहार्य आवश्यकता महसूस करना और पूँजीवादी जनवाद के रहे-सहे दायरे का भी तेज़ी से सिकुड़ते जाना। इसका चौथा आयाम है, पूँजी की लगातार बढ़ती पैठ के साथ ही गाँवों से उजड़ते लोगों का विगत दो दशकों के दौरान तेज़ी से विस्थापन, सामुदायिक ज़मीनों का अपहरण, जंगल की ज़मीन और पारम्परिक आजीविका से आदिवासी आबादी का उजाड़ा जाना। यूँ तो पारम्परिक जीविका एवं आवास से ग़रीबों का विस्थापन और गाँवों से शहरों की ओर आबादी का 'माइग्रेशन' पूँजीवाद की बुनियादी अभिलाक्षणिकता है और हर देश में ऐसा ही हुआ है। इसी उजड़ी आबादी की श्रम शक्ति को ख़रीदकर पूँजीपति उसे सर्वहारा बना डालता है। यूरोप और अमेरिका में इस उजड़ी हुई आबादी का बड़ा हिस्सा उजरती मज़दूर के रूप में उद्योगों में (पूँजीवादी फ़ार्मों और सेवा क्षेत्र में भी) खप जाया करता था, पर भारत में आज ऐसा नहीं हो पा रहा है और इससे सामाजिक रूप से विस्फोटक स्थिति पैदा हो रही है। आगे हम इन चारों आयामों की सिलसिलेवार चर्चा करेंगे।

पहला आयाम

1947 में राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के बाद, जनता के बड़े हिस्से को उम्मीद थी कि नेहरू की "समाजवादी" नीतियाँ ग़रीबी-बेरोज़गारी दूर करने के साथ ही समतामूलक सामाजिक ढाँचा बनाने का भी काम करेगी। लेकिन बरस-दर-बरस मोहभंग का सिलसिला जारी रहा। समाजवाद के नाम पर, जनता को निचोड़कर राजकीय पूँजीवाद का जो ढाँचा (पब्लिक सेक्टर) खड़ा किया गया, वह मेहनतकशों का शोषण करने के साथ ही नौकरशाही के भ्रष्टाचार से सराबोर था और उसका असली उद्देश्य प्राइवेट सेक्टर के मालिक निजी पूँजीपतियों की मदद करना था। आगे चलकार

काले क़ानूनों, निरंकुश पुलिस तन्त्र, सैन्य कार्रवाइयों, फ़र्जी मुठभेड़ों, टॉर्चर चैम्बरों और मीडिया ट्रॉयल के ज़रिये नहीं किया जा सकता आतंकवाद का ख़ात्मा! समस्या की जड़ में है नंगी पूँजीवादी लूट, भ्रष्ट-अत्याचारी शासनतन्त्र, समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा!

इन्दिरा सरकार ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण आदि के द्वारा इसी सिलसिले को आगे बढ़ाया। भारत सरकार के पूँजीवादी भूमि-सुधार कार्यक्रम ने धीरे-धीरे सामन्ती भूस्वामियों को पूँजीवादी भूस्वामी बनने का मौक़ा दिया। साथ ही, धनी और ख़ुशहाल मँझोले काश्तकार खेतों का मालिक बनते ही पूँजीवादी फ़ार्मर बन गये। जो निचले मँझोले और ग़रीब काश्तकार थे, उनके लिए खेती घाटे का सौदा बन गयी और वे उजड़कर सर्वहाराओं की क़तार में शामिल होते गये। यह सिलसिला आज भी जारी है। सामन्ती भूमि सम्बन्ध के दौर में जो भूमिहीन किसान और बँधुआ मज़दूर थे, ज़्यादातर वे ही पूँजीवादी दौर के उजरती गुलाम बन गये। इस तरह ऊपर से हुए भूमि सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण ने गाँवों की आम मेहनतकश आबादी को कुछ भी नहीं दिया, बस सामन्ती शोषण का स्थान पूँजीवादी शोषण ने ले लिया। 1950 के दशक के अन्त तक, जनता अपने अनुभव से यह देखने-समझने लगी थी कि राजनीतिक आज़ादी मिलने के बावजूद साम्राज्यवादी पूँजी द्वारा शोषण का सिलसिला जारी है और लूट में हिस्सा बाँटने और शासन चलाने की अपनी आज़ादी को सुरक्षित रखते हुए भारतीय पूँजीपति साम्राज्यवादियों से मोलतोल करके पूँजी और तकनालॉजी लेते हैं, उन्हें भी लूट का अवसर देते हैं और विश्व पूँजीवादी तन्त्र में उनके जूनियर पार्टनर की भूमिका निभाते हैं।

1960 के दशक के मध्य तक नेहरूवादी "समाजवाद" का रंगरोगन झड़ चुका था। खाद्य-संकट और बेरोज़गारी की समस्या गम्भीर रूप में सामने थी। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया एक ओर कई राज्यों में ग़ैरकांग्रेसी सरकारों के गठन और छात्र-युवा आन्दोलनों के रूप में तो दूसरी ओर नक्सलबाड़ी किसान उभार और संसदीय वामपन्थ से निर्णायक विच्छेद करने वाले क्रान्तिकारी वामपन्थी एकजुटता की प्रक्रिया के रूप में सामने आयी। बाद में इस क्रान्तिकारी वाम धारा का बड़ा हिस्सा "वामपन्थी" आतंकवाद के भटकाव का शिकार हो गया और अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण यह धारा गतिरोध और बिखराव का शिकार हो गयी। 1970 के दशक में व्यवस्था के आर्थिक-राजनीतिक संकट ने तब संवैधानिक संकट का रूप ले लिया, जब इन्दिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की दी। 1977 से शुरू हुए जनता पार्टी शासन के दौर ने पूँजीवादी जनवाद के संकट और सीमाओं को और अधिक स्पष्ट कर दिया। 1980 का दशक व्यवस्था के ढाँचागत संकट के गहराते जाने और बुनियादी आर्थिक नीतियों में बदलाव की तैयारी का दौर था। इस समय तक, यह स्पष्ट हो चुका था कि पब्लिक सेक्टर का प्रतियोगिता की आन्तरिक गति से विहीन और भ्रष्ट नौकरशाही पर आधारित ढाँचा पूँजीवाद के विकास के रास्ते में बाधा बनने लगा था। साथ ही, पूँजीपति वर्ग अब अतिलाभ निचोड़ने के लिए पूँजीवादी "कल्याणकारी राज्य" के फालतू ख़र्च को भी कम करना चाहता था। पब्लिक सेक्टर के उपक्रमों को हथियाने तथा बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों में पूँजी लगाने लायक आर्थिक ताक़त भी वह हासिल कर चुका था और उसे अब यह भरोसा भी था कि वह अपनी सम्प्रभुता खोये बिना विदेशी पूँजीव के लिए अर्थव्यवस्था के दरवाजे पूरी तरह खोल सकता है। ये नवउदारवादी नीतियाँ भारतीय पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत होने के साथ ही नयी विश्व-परिस्थितियों में उसकी मजबूरी भी थीं। 1990 के दशक में निजीकरण-उदारीकरण की जिन नयी आर्थिक नीतियों पर अमल की शुरुआत हुई, वह सिलसिला आज तक जारी है। शुरू में इस नीति के सूत्रधारों ने यह दावा किया कि नौकरशाही और भ्रष्टाचार से मुक्त होकर अर्थव्यवस्था अब तेज़ी से विकसित होगी। समाज के शिखरों पर जब समृद्धि आयेगी तो वह रिसकर नीचे तक पहुँचेगी। इसके लिए थोड़ा समय लगेगा। जनता ने इन्तजार किया और नवउदारवादी नीतियों पर अमल के उन्नीस वर्ष बीत गये। अर्थव्यवस्था पूरी दुनिया में चीन के बाद दूसरे नम्बर पर सर्वाधिक तेज़ गति से विकसित हुई। शिखरों पर समृद्धि बढ़ती रही, पर उसका क़तरा भी रिसकर नीचे तक नहीं पहुँचा। समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा गहरा होता गया।

देश की आम जनता के सामने, विकास के नेहरूवादी मॉडल से लेकर नवउदारवादी मॉडल तक की विफलता एकदम साफ़ हो चुकी है। जो व्यवस्था साठ वर्षों के भीतर ग़रीबी, रोज़गार, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्या को रंचमात्र भी हल नहीं कर सकी, जो सामाजिक-आर्थिक असमानता और भेदभाव को दूर कर पाने में पूरी तरह विफल रही, वह व्यवस्था व्यापक आम जनता की नज़रों में लाइलाज बीमारियों का शिकार है और उसे चलाने वाली राज्यसत्ता पूरी तरह से विफल है। ज़ाहिर है कि जिस समाज में इतने व्यापक मोहभंग और निराशा का माहौल है वह मानो एक ऐसे ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ है, जिसमें लगातार छोटे-बड़े विस्फोट होते रहते हैं।

इस परिदृश्य को और अच्छी तरह से समझने के लिए "राष्ट्रीय विकास" की बैलेंसशीट के महज़ कुछ तथ्यों पर सरसरी नज़र दौड़ा लेना काफ़ी होगा। यूँ तो भारत में धनी-ग़रीब के बीच की खाई पिछले साठ वर्षों के दौरान लगातार बढ़ती रही है, लेकिन पिछले उन्नीस वर्षों के दौरान यह बेहद तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। एक अध्ययन के अनुसार, देश की ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 प्रतिशत इकट्ठा हो गया है, जबकि नीचे की 60 प्रतिशत आबादी के पास महज दो प्रतिशत है। आबादी का 0.01 प्रतिशत भाग ऐसा है, जिसकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक हो चुकी है। देश की ऊपर की तीन फ़ीसदी और नीचे की 40 फ़ीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर आज साठ गुणा हो चुका है। 1 अरब 20 करोड़ आबादी में से पूँजीपतियों, धनी किसानों, व्यापारियों से लेकर ख़ुशहाल मध्य वर्ग की कुल आबादी 20 करोड़ के आसपास है। इसी आबादी के लिए आधुनिक जीवन की तमाम सुविधाओं और उपभोक्ता सामग्रियों का पूरा बाज़ार है। इसमें से भी मात्र 10 लाख लोग ऐसे हैं जिनकी मासिक आय 50 लाख रुपये से अधिक है। दूसरी ओर, वर्ष 2004-05 में क़रीब 84 करोड़ लोग (77 प्रतिशत आबादी) रोज़ाना 20 रुपये से भी कम की कमाई पर जी रहे थे।

अरबपतियों की कुल दौलत के लिहाज़ से भारत का अमेरिका के बाद दूसरा स्थान है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों और अनपढ़ों की तादाद के लिहाज़ से भी वह दुनिया में पहले नम्बर पर है। देश की 18 करोड़ आबादी झुग्गियों में रहती है, और 18 करोड़ आबादी फुटपाथों पर सोती है। 63 फ़ीसदी बच्चे प्राय: भूखे सोते हैं, 60 फ़ीसदी कुपोषणग्रस्त हैं, 23 फ़ीसदी जन्म से कमज़ोर और बीमार होते हैं तथा 1 हज़ार नवजातों में से 60 जन्म के एक वर्ष के भीतर मर जाते हैं। दुनिया में भुखमरी के शिकार 30 करोड़ लोगों में से 25 प्रतिशत भारतीय हैं। 1991 में प्रति व्यक्ति औसत खाद्यान्न की खपत 580 ग्राम थी जो 2007 में घटकर 445 ग्राम रह गयी। आज से 50 वर्षों पहले 5 व्यक्तियों का परिवार एक साल में औसतन जितना अनाज खाता था, आज उससे 200 किलो कम खाता है। आज़ादी के बाद ऊपर 22 एकाधिकारी पूँजीपति घरों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक का इज़ाफ़ा हुआ है। दूसरी ओर, मानव विकास सूचकांक के अनुसार, भारत 2007 में 127वें स्थान पर था। बच्चों की मृत्युदर के मामले में यह श्रीलंका, बांग्लादेश और नेपाल से भी पीछे है। वैश्विक भूख सूचकांक (2008) के अनुसार, भूखे लोगों के मामले में भारत बांग्लादेश और कुछ अफ्रीकी देशों को छोड़कर सभी से पीछे है। राजनीतिक आज़ादी के 62 वर्षों बाद 42 प्रतिशत घरों में बिजली नहीं है, 80 प्रतिशत परिवारों को (यानी क़रीब 80 करोड़ लोगों को) सुरक्षित पीने का पानी उपलब्ध नहीं है। इस भीषण अन्धकारमय पृष्ठभूमि में थोड़े से लोगों की समृद्धि न केवल अश्लील लगने लगती है, बल्कि सामाजिक विस्फोट के लिए एकदम अनुकूल प्रतीत होती है।

उदारीकरण-निजीकरण के वर्तमान दौर में, 93 फ़ीसदी कामगार आबादी "अनौपचारिक क्षेत्र" में काम करती है, और इसमें से भी 58 फ़ीसदी कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में काम करती है। इन मज़दूरों को किसी भी किस्म की रोज़गार-सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा हासिल नहीं है। ये दिहाड़ी, या ठेका पर काम करने वाले मज़दूर हैं, जो 12-14 घण्टे तक खटकर 70-80 रुपये रोज़ाना कमा पाते हैं। इस स्थिति से पैदा होने वाले जनाक्रोश पर ठण्डे पानी के छींटे मारने के लिए आज सरकार 'नरेगा' जैसी योजना और सामाजिक सुरक्षा की कुछ स्कीमें लागू कर रही है तो भ्रष्ट नौकरशाही-नेताशाही और सामाजिक दबंगों के गठजोड़ के चलते उनका लाभ आम लोगों तक बहुत कम ही पहुँच पाता है और इससे स्थिति और अधिक विस्फोटक होती जा रही है।

विगत 18-19 वर्षों के दौरान उत्पादन व्यय

(पेज 7 पर जारी)

लोकतन्त्र का लबादा खूँटी पर, दमन का चाबुक हाथ में!
"वामपन्थी" उग्रवाद से निपटने के नाम पर आम जनता के ख़िलाफ़ ख़ूनी युद्ध की तैयारी!

(पेज 6 से आगे)

में मज़दूरी-वेतन का हिस्सा लगातार घटता चला गया है। एक अध्ययन के अनुसार देश के सौ बड़े उद्योगों में 1990-91 में उत्पादन-व्यय में मज़दूरी का हिस्सा 11 प्रतिशत था जो 2000-2001 तक घटकर मात्र 5.56 प्रतिशत रह गया था। 1991 के पहले 4 प्रतिशत से भी कम वार्षिक आर्थिक संवृद्धि के साथ रोज़गार में 2 फ़ीसदी की वृद्धि होती थी। 1991 के बाद के वर्षों में 6 से 9 फ़ीसदी सालाना आर्थिक संवृद्धि दर होने के बावजूद नियमित रोज़गार में वृद्धि की दर 1 फ़ीसदी सालाना से आगे नहीं जा सकी है। श्रम-उत्पादकता बढ़ने के चलते उत्पादन में वृद्धि लगातार ऊँची गति से हुई है, लेकिन श्रम बाज़ार में श्रम शक्ति का मूल्य घटाकर पूँजीपति उत्पादन-व्यय में मज़दूरी के हिस्से को लगातार घटाते चले गये हैं। परम्परागत ट्रेडयूनियनें मज़दूरों के हितों की हिफ़ाज़त में सर्वथा अक्षम सिद्ध हुई हैं। श्रम क़ानूनों और श्रम विभाग का कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

गाँवों में पूँजी की पैठ ने छोटे और सीमान्त किसानों को उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ तो दिया है, लेकिन भारी बेरोज़गारी के कारण उनका मज़दूरों की क़तार में शामिल होकर गुज़र-बसर करना भी कठिन होता गया है। ऐसे में विस्थापित आबादी में भारी असन्तोष पैदा हुआ है। क़र्ज़ की मार से तबाह किसानों में छोटे-मँझोले किसानों की तादाद ही सर्वाधिक रही है। 1997 से 2007 के बीच ऐसे 1,82,936 किसानों ने आत्महत्या कर ली। इससे ग्रामीण समाज के ताने-बाने में बढ़ते तनाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

ये आँकड़े और तथ्य बहुत कम हैं, लेकिन यह स्पष्ट करने के लिए काफ़ी हैं कि इस व्यवस्था से व्यापक जनसमुदाय का तेज़ी से मोहभंग होता जा रहा है। आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य की जो कुरूपता हमारे सामने है, उसकी रही-सही कोर-कसर भारतीय संसदीय जनवाद का बेहद महँगा एवं परजीवी चरित्र तथा सिर से पाँव तक भ्रष्टाचार में डूबी नेताशाही-नौकरशाही पूरा कर देती है। चूँकि फ़िलहाल कोई क्रान्तिकारी विकल्प जनता के सामने प्रभावी रूप से मौजूद नहीं है, इसलिए जनता के स्वत:स्फूर्त संघर्षों के साथ "वामपन्थी" उग्रवाद और अन्य विविध रूपों में आतंकवाद का विस्फोट स्वाभाविक है। साथ ही, लोगों से यदि विरोध के अन्य विकल्पों-रास्तों को छीन लिया जायेगा, या उन्हें निष्प्रभावी बना दिया जायेगा, तो आबादी का एक हिस्सा एक वैकल्पिक व्यवस्था बनाने की सांगोपांग तैयार के बिना भी, दमनकारी सत्ता के विरुद्ध हथियार उठा सकता है। ज़ाहिर है कि शासक वर्ग की आर्थिक नीतियों की परिणति नग्न रूप में सामने आने के बाद जो सामाजिक विस्फोट की ज़मीन तैयार हो रही है, उसके भविष्य को भाँपते हुए शासक वर्ग अपने दमनतन्त्र को चाक-चौबन्द करने में लग गया है। इसीलिए हमारा कहना है कि 'आतंकवाद तो बहाना है, जनता ही निशाना है।'

दूसरा आयाम

भारतीय पूँजीवाद के व्यवस्थागत संकट का दूसरा आयाम है, समाज के दबे-कुचले हिस्सों (दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों और "परिधि" की राष्ट्रीयताओं) के विरुद्ध लगातार जारी ढाँचागत हिंसा। कोर्ट-कचहरी-क़ानून-नौकरशाही और पुलिसतन्त्र की जिस औपनिवेशिक विरासत को कुछ माँज-सँवारकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने आज तक क़ायम रखा है, उसके होते आम जनता को रोज़मर्रे के जीवन में क़दम-क़दम पर अन्याय, बेबसी और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। भ्रष्ट संसदीय राजनीति से लेकर ग्राम सभाओं पर स्थानीय दबंगों की वर्चस्वकारी स्थिति तक – राजनीति की दशा-दिशा भी वंचितों को लगातार दबाने का ही काम करती है। पर बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। हमारे सामाजिक ढाँचे में जनवादी मूल्य अत्यन्त कम हैं और पुराने सामन्ती निरंकुश स्वेच्छाचारी मूल्यों-मान्यताओं को पूँजीवाद ने कुछ माँज-तराशकर अपना लिया है। नतीजतन दलितों का उत्पीड़न आज भी जारी है। पहले ज़्यादातर वे बँधुआ मज़दूर होते थे, अब ज़्यादातर वे उजरती मज़दूर हैं। इससे जातिगत उत्पीड़न को एक नया सामाजिक आधार मिल गया है। धार्मिक अल्पसंख्यकों की दोयम दर्जे की नागरिकता तो 1947 के बाद से ही रही है, अब हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद के उभार ने उनको पूरी तरह से अलगाव और असुरक्षा की स्थिति में डाल दिया है। इन हिन्दुत्ववादियों का पहले व्यापारियों और शहरी मध्यवर्ग में आधार था। अब ख़ुशहाल मालिक किसानों के बीच भी उनका आधार है और आवश्यकतानुसार औद्योगिक और वित्तीय पूँजी भी इन्हें समर्थन देती है। "मुख्य भूमि" और "परिधि" की राष्ट्रीयताओं के बीच का बँटवारा एक सच्चाई है, जो पूँजीवादी नीतियों का नतीजा है। कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत में गत आधी सदी से सैनिक शासन जैसी स्थिति है और विभिन्न संगठनों के नेतृत्व में वहाँ केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध-संघर्ष लगातार चलते रहे हैं। इन इलाक़ों में संसदीय चुनाव फ़र्जी और रस्मी ही होते हैं। सेना और अर्द्धसैनिक बल ही वहाँ वास्तव में केन्द्रीय सत्ता की नुमाइन्दगी करते हैं। दूसरी ओर सशस्त्र संगठनों की वैकल्पिक सत्ता है, जिसे जनता का समर्थन हासिल होता है। ये सब भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था को ढाँचागत संकट और अस्थिरता प्रदान करने वाले उपादान हैं, जिनके चलते देश में सामाजिक संघर्षों की स्थिति लगातार बनी रहती है और राज्य मशीनरी इस स्थिति को नियन्त्रित रखने के लिए अपने दमन तन्त्र को लगातार मुस्तैद रखती है। अब व्यवस्था का संकट जैसे-जैसे अधिक गहरा होता जा रहा है, दमन तन्त्र वैसे-वैसे ज़्यादा से ज़्यादा चाक-चौबन्द और नग्न-निरंकुश होता जा रहा है।

व्यवस्था के गम्भीर ढाँचागत संकट के कारण सिकुड़ रहा है तेज़ी से पूँजीवादी जनवाद का रहा-सदा दायरा। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों पर प्रभावी अमल के लिए चाहिए एक निरंकुश स्वेच्छाचारी शासनतन्त्र!

तीसरा आयाम

भारत के पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमन ने (पदनिवृत्ति के बाद) भी एक बार यह स्वीकार किया था कि नवउदारवादी नीतियों को प्रभावी ढंग से अमल में लाने के लिए एक निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन तन्त्र ज़रूरी होगा। यह आश्चर्य की बात नहीं कि नवउदारवादी नीतियों के वर्तमान दौर में न केवल फ़ासीवादी प्रवृत्तियाँ पूरी दुनिया में विविध रूपों में सामने आ रही हैं, बल्कि पूँजीवादी जनवाद और फ़ासीवाद के बीच की विभाजक रेखाएँ भी धुँधली पड़ती जा रही हैं। भारत में भी पूँजीवादी जनवाद का 'स्पेस' लगातार सिकुड़ता जा रहा है और क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर पुलिस प्रशासन की भूमिका बढ़ती जा रही है। नवउदारवादी नीतियों को अमल में लाने की प्रक्रिया में छँटनी-बेरोज़गारी, श्रम क़ानूनों की निष्प्रभाविता, दिहाड़ीकरण-ठेकाकरण, 12-14 घण्टे तक के कार्यदिवस, सिंगल रेट ओवरटाइम, हर प्रकार की रोज़गार-सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा के अभाव आदि के चलते मज़दूरों में जो असन्तोष पैदा होगा, बेरोज़गारी और महँगी शिक्षा के कारण छात्रों-युवाओं में जो रोष पैदा होगा तथा विस्थापन एवं कंगालीकरण से ग्रामीण जीवन में जो भारी उथल-पुथल पैदा होगा, उसे सम्हालने के लिए निरंकुश दमनकारी सर्वसत्तावादी शासन की ज़रूरत होगी। आज नक्सलवाद से निपटने के नाम पर सरकार जो सामरिक तैयार कर रही है, वह दरअसल भविष्य के व्यापक जनउभारों से निपटने की दूरगामी तैयारी का एक हिस्सा मात्र है।

चौथा आयाम

पूँजी जब किसी देश के सामाजिक जीवन में प्रवेश करती है तो उसके किसी भी कोने को अछूता नहीं छोड़ती। वह रन्ध्र-रन्ध्र को बेध देती है और पोर-पोर में पैठ जाती है। यूँ तो यह प्रक्रिया भारतीय समाज में गत आधी सदी से जारी थी, पर विगत लगभग दो दशकों से इसकी गति अत्यधिक तेज़ रही है। सुदूरवर्ती जंगल-पहाड़ों तक पहुँचकर कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़ा जमाते हुए, कारख़ाने खड़े करने के लिए ज़मीनें हथियाते हुए जिन आदिवासियों को सामुदायिक ज़मीनों, जंगलों और पारम्परिक जीविका से एक झटके से उजाड़ दिया गया है, वे इतनी जल्दी कल-कारख़ानों-फार्मों की पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में न तो खपने के लिए तैयार हैं, न ही पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ही उन्हें खपाने के लिए तैयार है। वह तो गाँवों से उजड़कर शहरों में आने वाली किसान आबादी को भी पूरी तरह से खपा नहीं पा रही है। नतीजतन जंगलों-पर्वतीय अंचलों के आदिवासी पूँजी के इस विस्तारवाद के विरुद्ध अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। यह लड़ाई वे पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ रहे हैं। इसका चरित्र प्रतिरक्षात्मक है। इस लड़ाई को जीतना सम्भव नहीं है, पर उनके लिए यह जीवन-मरण की लड़ाई है। इन्हीं क्षेत्रों में, इन्हीं आदिवासियों के बीच आज भा.क.पा. (माओवादी) के हथियारबन्द संघर्ष का मुख्य आधार है।

निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि आतंकवाद, अपने हर रूप में, पूँजीवादी अन्याय-अत्याचार और राज्य मशीनरी के दमनतन्त्र की प्रतिक्रिया में होता है। उसे दमन के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। आतंकवाद से निपटने के नाम पर सरकार वस्तुत: आने वाले दिनों में उठ खड़े होने वाले जनसंघर्षों का मुक़ाबला करने के लिए हर तरह से चाक-चौबन्द हो रही है। यानी पूँजीवादी जनवाद का रहा-सहा दायरा भी व्यवस्था के गम्भीर ढाँचागत संकट के कारण सिकुड़ता जा रहा है।

●

कहने की आवश्यकता नहीं कि हम भा.क.पा.(माओवादी) की राजनीति के समर्थक नहीं हैं। हम उसे "वामपन्थी" उग्रवादी या क्रान्तिकारी आतंकवादी भटकाव मानते हैं। हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि देश के व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय को संगठित किये बिना, हथियार उठाकर क्रान्ति की कोशिश एक बचकानी कोशिश है। हथियार नहीं, बल्कि जनता क्रान्ति का मुख्य उपादान है। हथियार पर राजनीति का नियन्त्रण होना चाहिए न कि राजनीति पर हथियार का – माओ की भी यही शिक्षा थी। यह एक विडम्बना ही है कि माओ जनदिशा के कट्टर हिमायती थे, जबकि भारत में माओवाद के नाम पर "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन लागू की जा रही है। "वामपन्थी" दुस्साहसवाद या आतंकवाद दरअसल पुनरुत्थान, विपर्यय और प्रतिक्रान्ति के अँधेरे में दिशाहीन विद्रोह और निराशा के माहौल की एक अभिव्यक्ति है। यह जनक्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्तियों की अनुपस्थिति या कमज़ोरी या विफलता की एक अभिव्यक्ति और परिणति है। यह कल्पनावादी, रोमानी, विद्रोही मध्यवर्ग की अपने बूते आनन-फानन में क्रान्ति कर लेने की उद्विग्नता और मेहनतकश जनसमुदाय की संगठित शक्ति एवं सृजनशीलता में उसकी अनास्था की अभिव्यक्ति है। "वामपन्थी" उग्रवाद सर्वहारा वर्ग को कभी व्यापक रूप से प्रभावित नहीं कर सकता, लेकिन अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही, नितान्त पिछड़ी उत्पादन प्रणाली में भागीदारी के चलते नितान्त पिछड़ी चेतना रखने वाली आदिवासी आबादी ऐसे क्रान्तिकारियों को अपना मुक्तिदाता और मसीहा मानते हुए उनके पीछे लामबन्द हो सकती है और जंगलों-पहाड़ों में लम्बे समय तक हथियारबन्द संघर्ष चलाया जा सकता है। कुछ पिछड़े ग्रामीण अंचलों में भी कुछ एक्शन हो सकते हैं। पर पूँजीवादी विकास वाले ग्रामीण क्षेत्रों और औद्योगिक क्षेत्रों में हथियारबन्द संघर्ष आगे बढ़ा पाना सम्भव ही नहीं होगा।

भा.क.पा.(माओवादी) की राजनीति का समर्थन नहीं करते हुए भी, हम उनके विरुद्ध राज्यसत्ता की दमनात्मक कार्रवाई का पुरज़ोर विरोध करते हैं, क्योंकि हमारी स्पष्ट और दृढ़ मान्यता है कि हर प्रकार के आतंकवाद का मूल स्रोत और कारण राजकीय आतंकवाद, यानी शासक वर्ग का आतंकवाद होता है। पूँजीवादी राज्यसत्ता की मौजूदगी ही अपने आप में जनता के विरुद्ध हिंसा और आतंक की निरन्तरता होती है। क्रान्तिकारी आतंकवाद का रास्ता ग़लत, अव्यावहारिक और जनक्रान्ति के लिए नुक़सानदेह होता है, लेकिन वह भी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का स्वर होता है और उसका भी मूल कारण राजकीय आतंकवाद ही होता है। इसलिए हम राज्यसत्ता द्वारा क्रान्तिकारी आतंकवादियों के साथ अपराधियों जैसा सुलूक करने का प्रबल विरोध करते हैं, उनके राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं, फ़र्जी मुठभेड़ों और टॉर्चर का विरोध करते हैं और उन्हें राजनीतिक बन्दी का दर्जा देने की माँग करते हैं।

राज्यसत्ता आतंकवाद के विरुद्ध जब भी कोई कार्रवाई करती है तो वस्तुत: प्रभावित इलाक़े की पूरी जनता को बर्बर दमन का शिकार बनाती है। पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों का ढाँचा और कार्यप्रणाली ऐसी है कि इससे भिन्न कुछ और हो भी नहीं सकता। इसलिए हम आतंकवाद के विरुद्ध कार्रवाई के नाम पर पूरी जनता को बर्बर दमन का शिकार बनाने के कुचक्र का पुरज़ोर शब्दों में विरोध करते हैं।

हमारा मानना है कि आतंकवाद से निपटने के नाम पर भारत का शासक वर्ग वस्तुत: आने वाले दिनों के क्रान्तिकारी जन-विस्फोटों से निपटने के लिए ख़ुद को चाक-चौबन्द बना रहा है। यह अघोषित आपातकाल की आहट है। यह निरंकुश दमनतन्त्र संगठित करने की सुनियोजित कार्ययोजना का पहला चरण है। मेहनतकश जनसमुदाय को और नागरिक आज़ादी एवं जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए संकल्पबद्ध बुद्धिजीवियों को एकजुट होकर उसके विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी। शासक वर्ग ने भविष्य के मद्देनज़र अपनी तैयारियाँ तेज़ कर दी है। मेहनतकश जनसमुदाय की हरावल पाँतों को भी अपनी तैयारियाँ तेज़ कर देनी होंगी।

●●●

नाना पाटेकर, सनी देओल और चिदम्बरम

आतंकवाद बम्बइया फ़िल्मों के सबसे लोकप्रिय फ़ार्मूलों में से एक है। इनमें से अधिकांश फ़िल्में इस बात की पुरज़ोर वकालत करती हैं कि कोर्ट-कचहरी के लम्बे चक्करों के बजाय, पुलिस को यह पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह आतंकवादियों को खुद ही सज़ा सुनाकर आनन-फ़ानन में उसकी तामील भी कर दे। यानी आतंकवादियों के सन्दर्भ में संविधान और क़ानून का कोई अस्तित्व नहीं (तर्क यह कि वे स्वयं भी तो उन्हें नहीं मानते!), उन्हें फ़र्जी मुठभेड़ में या टॉर्चर चैम्बर में ढेर कर देना सर्वथा न्यायोचित है! देखा जाये तो यह तर्क सर्वथा ग़ैरक़ानूनी और असंवैधानिक है। लेकिन इस देश का सेंसर बोर्ड इन फ़िल्मों को धड़ल्ले से पास करता है। एक चोर, डकैत और हत्यारे को भी न्याय का अधिकार प्राप्त है और एक आतंकवादी को भी। जो लोग सत्तातन्त्र द्वारा इस अधिकार के अपहरण को जायज़ ठहराते हैं, वे प्रकारान्तर से यह स्वीकार करते हैं कि स्वयं यह राज्यसत्ता ही आतंकवादी है।

बहरहाल, आतंकवाद को मुद्दा बनाने वाली फ़िल्मों में प्राय: नायक मानवाधिकार संगठनों को भी काफ़ी झाड़ पिलाता है कि वे आतंकवादियों के मानवाधिकार की बात करते हैं, फ़र्जी मुठभेड़ों आदि की निन्दा करते हैं और आतंकवादियों को क़ानूनी बचाव में मदद करते हैं। यूँ तो ऐसी कई फ़िल्में बनी हैं, लेकिन इस रिपोर्टर को ऐसी दो फ़िल्मों की बखूबी याद है जिनमें मानवाधिकार संगठनों को फटकारने-लताड़ने का काम क्रमश: सनी देओल और नाना पाटेकर करते हैं।

और अब हाल ही में देश के गृहमन्त्री चिदम्बरम ने भी इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि आतंकवादियों के विरुद्ध कार्रवाई में मानवाधिकार संगठन प्राय: आड़े आ जाते हैं! यानी आतंकवादियों से निपटने की नीति पर चिदम्बरम और सनी देओल-नाना पाटेकर की भाषा एक है – एकदम 'मिले सुरे मेरा-तुम्हारा।' आइये, अब ज़रा इस साझा क्षोभ के निहितार्थों को समझने की कोशिश की जाये। मानवाधिकार संगठन इस मामले में क्या कहते हैं? उनका मात्र यह कहना है कि सज़ा देने से पहले आतंकवाद का अभियोग न्यायालय में सिद्ध तो होना चाहिए! यदि दोष तय करने और सज़ा दे देने का अधिकार पुलिस को ही है, तो फिर क़ानून-कोर्ट-कचहरी का मतलब ही क्या है? फिर तो यही तर्क आतंकवाद ही नहीं, बल्कि हर तरह के अपराध के बारे में लागू होना चाहिए! पुलिस द्वारा किसी को भी आतंकवादी बताकर एनकाउण्टर कर देने, यन्त्रणा देकर गुनाह कबुलवाने और हिरासत में मौतें हमारे देश में एकदम आम बात है। "वामपन्थी" उग्रवाद या किसी प्रकार के उग्रवाद के दमन के नाम पर 'कॉम्बिंग ऑपरेशन' के दौरान व्यापक आम आबादी को बर्बर दमन का शिकार बनाने की घटनाएँ सिद्ध हो चुकी हैं। 'सलवा जुडुम' की नंगी सच्चाई आज पूरे देश के सामने है। मानवाधिकार संगठन इन्हीं चीज़ों का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि एक अपराधी के भी जनवादी अधिकार होते हैं। न्याय पाना उसका हक़ है और दोष सिद्धि के बाद ही उसे सज़ा दी जा सकती है। जहाँ तक आतंकवाद की बात है, अपने हर रूप में वह एक राजनीतिक विचारधारा है। आतंकवादी राज्य के विरुद्ध युद्ध चलाता है। इस युद्ध में यदि वह मारा जाता है तो यह अलग बात है। यदि वह पकड़ा जाता है तो उस पर राजद्रोह का अभियोग लगाया जा सकता है। पर मुक़दमे के दौरान उसे राजनीतिक बन्दी के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। उसे हिरासत में यन्त्रणा देकर गुनाह नहीं कबुलवाया जा सकता या फ़र्जी मुठभेड़ दिखाकर उसकी हत्या नहीं की जा सकती। पूरी दुनिया के सभी पूँजीवादी जनतन्त्र इन बातों को उसूली तौर पर स्वीकार करते हैं, लेकिन अमली तौर पर नहीं। मानवाधिकार संगठन, जनवादी अधिकार संगठन और नागरिक स्वतन्त्रता संगठन इन्हीं उसूलों को अमल में लाने के लिए दबाव बनाते हैं। यह हमारे संविधान और क़ानून-व्यवस्था में उल्लिखित बातों को ही लागू करने का सवाल है, जो जनवादी अधिकार संगठन उठाते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। फिर भी यदि चिदम्बरम साहेब को लगता है कि मानवाधिकार संगठन कुछ ग़लत कर रहे हैं तो उन्हें सबसे पहले संविधान और क़ानून व्यवस्था के कतिपय प्रावधानों को ही निरस्त करने की माँग उठानी चाहिए। देखा जाये तो प्रकारान्तर से चिदम्बरम एक 'पुलिस स्टेट' जैसी अर्द्धफ़ासिस्ट व्यवस्था क़ायम करने की बात कर रहे हैं जहाँ अमूर्त "देशहित" की आड़ लेकर किसी को भी दण्डित करने का सर्वाधिकार शासन-प्रशासन को प्राप्त हो। एक सर्वसत्तावादी राज्य ऐसा ही होता है, जैसा चिदम्बरम चाहते हैं। इसीलिए वह नाना पाटेकर और सनी देओल के सुर में सुर मिलाकर डायलॉग बोल रहे हैं।

– आलोक रंजन

प्रधानमन्त्री जी, देश की सुरक्षा को ख़तरा आतंकवाद से नहीं, ग़रीबी-भुखमरी-बेरोज़गारी से है!

– सुखदेव –

गुज़रे 14-15 सितम्बर 2009 को नयी दिल्ली में विभिन्न राज्यों के पुलिस अध्यक्षों तथा अन्य पुलिस अफ़सरों का वार्षिक दो रोज़ा सम्मेलन हुआ। पहले दिन इस सम्मेलन को गृह मन्त्री चिदम्बरम और दूसरे दिन प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने मुख्य वक्ता के तौर पर सम्बोधित किया। दोनों ने इस देश को अन्दरूनी तथा बाहरी आतंकवाद से ख़तरे की चर्चा करते हुए, इससे निपटने के उपायों की चर्चा की। प्रधानमन्त्री ने अपने भाषण में कुछ दिलचस्प और आधी सच्ची बातें कहीं। उन्होंने नियन्त्रण रेखा के पार से और नेपाल, बांग्लादेश से देश में हो रही घुसपैठ की चर्चा की। उन्होंने कश्मीर और उत्तर पूर्वी राज्यों में सरकार के हथियारबन्द दस्तों की हथियारबन्द आतंकवादियों से टक्करों में हो रही बढ़ोतरी की चर्चा की। प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह पिछले कई वर्षों से नक्सलवाद को देश की अन्दरूनी सुरक्षा के लिए सबसे बड़े ख़तरे के तौर पर पेश करते आ रहे हैं। उपरोक्त सम्मेलन में दिये अपने भाषण में उन्होंने फिर इस बात को दोहराया। उन्होंने माना कि, "नागरिक समाज, बुद्धिजीवियों और नौजवानों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से में इस आन्दोलन का प्रभाव है। उन्होंने यह भी माना कि उनके प्रयासों के बावजूद प्रभावित राज्यों में हिंसा में बढ़ोत्तरी जारी है।"

आगे उन्होंने कहा कि हमें यह अच्छी तरह समझना पड़ेगा कि किस तरह नौजवानों को इन आन्दोलनों में हिस्सा लेने के लिए उत्तेजित किया जाता है, कैसे भर्ती किया जाता है और कैसे शिक्षित किया जाता है। सामाजिक सामंजस्य को तोड़ने वाले और अलगाव पैदा करने वाले कारकों की स्पष्ट पहचान करनी पड़ेगी, ताकि उन्हें दूर करने के लिए काम किया जा सके।

लेकिन मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सामंजस्य सम्भव नहीं है। हमारा समाज दो धड़ों में बँटा हुआ है। देश की बड़ी संख्या मेहनतकश लोगों की है, जो हाड़-तोड़ मेहनत करते हैं लेकिन फिर भी पेट से भूखे हैं, करोड़ों के पास रहने के लिए बसेरा नहीं है, तन ढकने को कपड़ा नहीं है। वे ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी की चक्की में हमेशा पिसते रहते हैं। दूसरा धड़ा उन जोंकों का है जो इन मेहनतकशों के शरीरों पर चिपका हुआ है। यह धड़ा परजीवियों का है जो मेहनतकशों की कमाई खा रहा है। देश के करोड़ों मेहनतकश लोगों की दुर्दशा की वजह इन्हीं परजीवियों द्वारा हो रहा लूट-शोषण है। प्रधानमन्त्री जी पता नहीं कौन से 'सामाजिक सामंजस्य' के टूटने की बात कर रहे हैं। वर्गों में बँटे, लोगों और जोंकों के हिस्सों में बँटे समाज से सामाजिक सामंजस्य हो ही नहीं सकता, फिर इसके पैदा होने के कारकों को ढूँढ़ने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

आज़ादी के बाद कश्मीर और उत्तर पूर्वी राज्यों में लगातार राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ज़ोर पकड़ते जा रहे हैं। इन आन्दोलनों को इन राष्ट्रों की विशाल जनता का समर्थन हासिल रहा है। बाद में इनमें कई आन्दोलन भटकावग्रस्त भी हुए। आज कई जगहों पर धार्मिक मूलवादी और कई जगहों पर अति-राष्ट्रवादी संगठन इन आन्दोलनों में सक्रिय हैं। आज इन आन्दोलनों का नेतृत्व करने वाले संगठनों के सिद्धान्त और काम करने के ढंग से असहमति हो सकती है, लेकिन एक बात पक्की है कि कश्मीर और उत्तर पूर्व में बड़े पैमाने पर जिस सामाजिक बेचैनी का समय-समय पर फूटना लगा रहता है, उसकी मुख्य वजह भारतीय राज्यसत्ता द्वारा इन राष्ट्रों का बर्बर दमन ही है। यही वजह है कि इन राष्ट्रीयताओं की जनता भारतीय राज्य और इसके प्रतीक चिन्हों को नफ़रत करती है। अपनी तबाह हाल अर्थव्यवस्थाओं के चलते ये लोग बेरोज़गारी, भुखमरी से जूझ रहे हैं और भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ उठने वाले हर आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं।

आज़ादी के बाद देश के भीतर अमीर-ग़रीब के बीच की खाई और चौड़ी हो गयी है। नयी आर्थिक नीति की शुरुआत (1991) के बाद तो यह खाई और भी तेज़ी से चौड़ी हुई है। देशी-विदेशी धनकुबेरों ने दोनों हाथों से देश की दौलत लूटी है। नयी आर्थिक नीति के बाद बने करोड़पतियों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है। यहाँ तक कि देश के उच्च मध्यवर्ग के पास बेहिसाब धन इकट्ठा हुआ है। इस लूट के माल पर यह छोटी सी आबादी ऐश कर रही है। कुछ वर्ष पहले प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने इन धनकुबेरों को धन का दिखावा न करने की सलाह दी थी और चेतावनी दी थी कि धनवालों का ऐशो-आराम देखकर ग़रीबों के दिलों में बेचैनी जन्म ले सकती है। लेकिन किसी ने भी प्रधानमन्त्री की सलाह और चेतावनी पर कान न रखा।

दूसरी तरफ़ देश में 35 करोड़ लोग रात को भूखा सोते हैं। बचपन होटलों, ढाबों, भट्ठों, कारख़ानों में मज़दूरी करते बरबाद हो रहा है। देश की लगभग एक तिहाई आबादी बेरोज़गारी-अर्धबेरोज़गारी, छँटनियों, तालाबन्दियों, की मार झेल रही है। प्राइवेट सेक्टरों में करोड़ों नौजवान बेहद कम वेतन पर काम करते हुए अनेक मानसिक तनावों में उलझे रहते हैं।

यही वे कारक हैं जो देश के विभिन्न भागों में सामाजिक बेचैनी को जन्म दे रहे हैं। लोगों का गुस्सा देश के कोने-कोने में कहीं छोटे पैमाने पर और कहीं बड़े पैमाने पर फूट रहा है। अगर प्रधानमन्त्री के सामाजिक सामंजस्य टूटने और अलगाव के पैदा होने का अर्थ इस बेचैनी से है तो इसके कारणों को ढूँढ़ने के लिए किसी गहरे सिद्धान्त की ज़रूरत नहीं है। सभी इसके कारणों को जानते हैं। कुछ दिन पहले चण्डीगढ़ की एक कालोनी में प्रचार के दौरान मिले एक साधारण मध्यवर्गीय नागरिक ने प्रधानमन्त्री के उपरोक्त भाषण का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा था कि 'देश की सुरक्षा को ख़तरा आतंकवाद से नहीं बल्कि आलू से है। जहाँ आलू ही 25 रुपये किलो मिलते हैं, वहाँ लोग आतंकवादी नहीं बनेंगे तो क्या बनेंगे।' देश के करोड़ों लोग पहले ही भुखमरी के शिकार हैं, लेकिन पिछले दो वर्षों से लगातार बढ़ रही महँगाई ने उन करोड़ों लोगों से भी रोटी छीन ली है जिन्हें थोड़ी-बहुत मिलती थी। फल-दूध तो पहले ही देश के करोड़ों लोगों के लिए सपना थे, अब दाल-सब्जी भी उनकी पहुँच के बाहर हो गयी है। ग़रीबों की खुराक माने जाने वाले प्याज-आलू भी आज उनसे छीन लिये गये हैं। यह हो ही नहीं सकता कि प्रधानमन्त्री जी यह सारा कुछ न जानते हों। वे सब जानते हैं। लेकिन जिस कुर्सी पर वे बैठे हैं, वहाँ बैठकर वे उससे अधिक कुछ बोल ही नहीं सकते, जितना उन्होंने बोला है।

एक तरफ़ वे 'सामाजिक सामंजस्य' के टूटने और बढ़ रहे अलगाव के ज़िम्मेदार कारकों को ढूँढ़ने और उन्हें दूर करने के लिए काम करने की बात कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ इन्हीं कारकों की बदौलत पैदा हो रहे जनान्दोलनों को दमन के ज़ोर पर दबा देने की ज़ोरदार वकालत करते हैं। अपने उपरोक्त भाषण में प्रधानमन्त्री ने देश की सुरक्षा की गारण्टी करने के लिए पुलिस में बड़े पैमाने पर नयी भर्ती करने और पुलिस को आधुनिक तकनीक से लैस करने की वकालत की। देश के हुक्मरानों के पास यही राह बचती भी है, जो खुद उनकी मौत की तरफ़ जाती है। प्रधानमन्त्री अच्छी तरह जानते हैं कि इस व्यवस्था, जिसके रक्षकों के मुखिया वे खुद हैं, के अन्दर ही अन्दर सामाजिक बेचैनी (जनता की ग़रीबी, बेरोज़गारी, भुखमरी, लूट, दमन) को दूर नहीं किया जा सकता। इसलिए लूट-शोषण के शिकार मेहनतकशों और राष्ट्रीयताओं में खौल रही बेचैनी को रोकने के लिए वे राज्यसत्ता के दाँत तीखे किये जा रहे हैं। लेकिन इतिहास गवाह है कि ज़ोर-जुल्म-दमन के दम पर जनता के जायज़ संघर्षों को दबाया नहीं जा सकता।

(पंजाबी पत्रिका 'ललकार' से साभार)

'फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें' लेख की पाँचवी किश्त स्थानाभाव के कारण इस बार नहीं प्रकाशित हो सकी है। यह किश्त बिगुल के नवम्बर 2009 अंक में प्रकाशित होगी। जो साथी इसे अभी पढ़ना चाहें वे बिगुल की वेबसाइट http://sites.google.com/site/bigulakhbar पर इसे पढ़ सकते हैं। – सं.

चीनी क्रान्ति की 60वीं वर्षगाँठ पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति मेहनतकश जनता के लिए प्रेरणा का अक्षयस्त्रोत बनी रहेगी!

इस क्रान्ति की शिक्षाओं से सीखकर आज की क्रान्तिकारी राह पर आगे बढ़ना होगा!

चीनी क्रान्ति की 60वीं वर्षगाँठ पर चीन के वर्तमान पूँजीवादी शासकों ने जिस तरह माओ की तस्वीर और पाँच सितारों वाले लाल झण्डे के साथ अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया उसे 21वीं सदी का सबसे अश्लील मज़ाक कहा जाना चाहिए। माओ त्से-तुङ के निधन के बाद चीनी की सत्ता पर काबिज़ होने वाले पूँजीवादी पथगामियों के गिरोह ने आज चीन को वहाँ ला खड़ा किया है कि अपने देश के मज़दूरों को बुरी तरह निचोड़ने और सस्ती श्रमशक्ति को लूटने के लिए दुनियाभर की कम्पनियों को मौका देने में वह सबसे आगे निकल गया है। इतना ही नहीं, अब चीन के नये शासक मुद्रा पूँजी का निर्यात करके अफ्रीका के कई देशों सहित दूसरे मुल्कों के मज़दूरों का भी शोषण कर रहे हैं और साम्राज्यवादी लुटेरों की कतार में शामिल होने के लिए अपनी ताक़त का अश्लील प्रदर्शन कर रहे हैं। समाजवाद के दौर की सारी उपलब्धियों को धूल में मिलाया जा चुका है और पूँजीवादी व्यवस्था को अपनी तमाम गलीज़ बीमारियों के साथ खुलकर पनपने का मौका दिया जा रहा है।

लेकिन चीनी जनता इन नये हुक्मरानों के लुटेरे शासन को चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर रही है। चीन के मज़दूर और नौजवान लगातार इनके ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। माओ की यह भविष्यवाणी अक्षरश: सही साबित हो रही है – "चीन में यदि पूँजीवादी पथगामी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना में सफल हो भी गये तो भी वे कभी चैन की नींद नहीं सो सकेंगे और उनका शासन सम्भवत: थोड़े समय तक ही टिक पायेगा, क्योंकि यह उन क्रान्तिकारियों द्वारा बर्दाश्त नहीं किया जा सकेगा, जो पूरी आबादी के 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

आज हम महान चीनी क्रान्ति की 60वीं वषगाँठ ऐसे समय में मना रहे हैं जब चीनी जनता की पीठ पर सवार वहाँ के पूँजीवादी शासक समाजवाद का नाम लेते हुए पूँजीवादी लूट को बढ़ावा देने में बेशर्मी और बर्बरता के सारे रिकॉर्ड तोड़ रहे हैं। फिर भी, अफवाहों, कुत्सा-प्रचारों और झूठ से या आज के चीन के नये पूँजीवादी शासकों के काले कारनामों से उस महान क्रान्ति की आभा मन्द नहीं पड़ी है जिसने सदियों से लूटे और कुचले जा रहे विशाल देश की सोई हुई जनता को एक प्रचण्ड चक्रवाती तूफान की भाँति जगाकर खड़ा कर दिया। एशिया के जागरण की **लेनिन** की भविष्यवाणी को साकार करते हुए चीन की साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति ने एशिया-अफ्रीका- लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों- अर्द्धउपनिवेशों- नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभायी। लोकयुद्धों की विजय ने उपनिवेशवाद के दौर को सदा के लिए इतिहास की कचरा पेटी के हवाले कर दिया। जनज्वार ने विश्व-स्तर पर साम्राज्यवाद को पीछे हटने और लूट की नई रणनीति विकसित करने के लिए विवश कर दिया।

तब से लेकर आज तक एक लम्बा समय बीत चुका है। सोवियत संघ और चीन में प्रगति, न्याय, समता और स्वतंत्रता के नये कीर्तिमान स्थापित करने वाली हमारी सदी की दोनों महानतम क्रान्तियाँ मानवता को बहुत कुछ दे चुकने के बाद पराजित हो चुकी हैं। 1976 में **माओ त्से-तुङ** की मृत्यु के बाद चीन में सत्तासीन पूँजीवादी पथगामी "बाज़ार-समाजवाद" के नाम पर पूँजीवाद को अब मुकम्मल तौर पर बहाल कर चुके हैं। इस उल्टी लहर का असर पूरी दुनिया पर हुआ है। मेहनतकश अवाम के ख़िलाफ़ दुनिया भर के पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी की ताक़त और आर्थिक नीतियों से तो चौतरफ़ा हमला बोला ही है, विचार और संस्कृति के स्तर पर भी वे हावी होकर लड़ रहे हैं। मेहनतकश जनता से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की स्मृतियों को, समतामूलक भविष्य के स्वप्नों को और समाजवादी परियोजनाओं को छीनने की हर चन्द कोशिशें की जा रही हैं। क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा पूरी तरह हावी दीख रही है। लोगों को यकीन दिलाने की कोशिश की जा रही है कि पूँजीवाद ही मानव-इतिहास के विकास की आख़िरी मंज़िल है।

"चीनी जनता उठ खड़ी हुई है," आज से साठ वर्ष पहले 1 अक्टूबर, 1949 को राजधानी पेइचिङ के केन्द्र में स्थित तिएन आन मेन चौक में लहराते विशाल जनसमुद्र के समक्ष इसी उद्घोष के साथ **माओ त्से-तुङ** ने **चीनी लोक गणराज्य** की स्थापना की घोषणा की थी। **आज दुनिया भर के सर्वहारा क्रान्तिकारियों का यह दायित्व है कि वे इतिहास की उस महाकाव्यात्मक समर-गाथा और शौर्यपूर्ण विजय को न सिर्फ याद करें बल्कि अकूत कुर्बानियों से हासिल इस महान क्रान्ति की शिक्षाओं को आत्मसात् करें, इनसे व्यापक मेहनतकश जनता को परिचित करायें और नयी क्रान्तियों के लिए आवश्यक प्रेरणा तथा ज़रूरी सबक लें।**

अफ़ीम युद्ध से मुक्ति तक

चीन एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक साम्राज्यवादी प्रभुत्व और बन्दरबाँट का शिकार रहा। पहले से ही मध्यकालीन सामन्ती उत्पीड़न से तबाह और टूटी हुई किसान जनता से साम्राज्यवादी ताकतों ने खून की आख़िरी बूँद तक निचोड़ लेने की कोशिश की। 1840 के दशक में ब्रिटेन ने अफ़ीम युद्ध इसलिए छेड़ा कि चीनी अफ़ीम का व्यापार जारी रखें। लाखों चीनी अफ़ीमची हो गये और ब्रिटेन के व्यापारियों-बैंकरों की थैलियाँ मोटी होती रहीं। **डा. सुन यात-सेन** के नेतृत्व में हुई 1911 की पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति ने सामन्ती राजतंत्र का तख्ता तो पलट दिया पर यह क्रान्ति अधूरी रही। साम्राज्यवादी षड्यंत्र ने चीन को अलग-अलग युद्ध-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई "राज्यों" में बाँट दिया। चीन के किसान बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। शहरी व्यापारिक और औद्योगिक अर्थव्यवस्था नौकरशाह-दलाल पूँजीपतियों के माध्यम से सीधे साम्राज्यवाद के मातहत थी।

मई, 1919 का महीना चीन के इतिहास का एक नया प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। चीन के छात्रों-युवाओं की भारी आबादी चीन पर विदेशी प्रभुत्व – विशेषकर जापानी प्रभुत्व का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई। **'4 मई आन्दोलन'** नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन ने ठहरे हुए चीनी समाज के राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन में उथल-पुथल मचा दी। क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से प्रभावित छात्रों के बीच से आगे बढ़कर कई युवाओं ने बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति में अग्रणी भूमिका निभायी।

4 मई आन्दोलन के आसपास ही चीनी क्रान्ति के भावी नेता, युवा माओ त्से-तुङ पहली बार मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। जुलाई, 1919 में उन्होंने हुनान से एक पत्रिका निकालनी शुरू की और 1920 की गर्मियों में क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसायटी संगठित की। 1920 की शरद में उन्होंने च्याङशा में कम्युनिस्ट ग्रुप कायम किये।

जुलाई, 1921 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। शुरुआती कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रान्ति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में गलत धारणाओं के चलते चीनी कम्युनिस्टों को एक के बाद एक कई हारों का सामना करना पड़ा। क्रान्तिकारी सेनाएं प्रतिक्रियावादी सेनाओं से घिर गईं और उनका अन्त करीब लगने लगा। इस कठिन स्थिति से क्रान्ति को उबारकर आगे बढ़ाने में माओ ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। उस समय से लेकर 1949 में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होने तक, और फिर आगे समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति के कठिन वर्ग संघर्ष और अनूठे प्रयोगों भरे दौर में, 1976 में अपनी मृत्यु होने तक, माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता को नेतृत्व दिया। यही नहीं, चीन की जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के दौर के प्रयोगों – विशेषकर 1966-76 की **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए माओ त्से-तुङ को **मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन** और **स्तालिन** के बाद अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के पाँचवें शिक्षक और नेता का दर्जा दिया गया। **इतिहास में माओ त्से-तुङ का यह स्थान न सिर्फ हमेशा सुरक्षित रहेगा, बल्कि आने वाली सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियाँ दुनिया के मेहनतकशों को माओ की महान अर्थवत्ता के नये-नये पहलुओं से परिचित करायेंगी।**

माओ त्से-तुङ ने पहली बार यह बताया कि चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देश में क्रान्ति की मुख्य ताकत किसान होंगे। सर्वहारा वर्ग की भूमिका यहाँ नेतृत्वकारी होगी। उन्होंने **कम्युनिस्ट पार्टी, लाल सेना** और **संयुक्त मोर्चा** को **नवजनवादी क्रान्ति** के तीन चमत्कारी हथियारों की संज्ञा दी। रूसी क्रान्ति के सशस्त्र आम बग़ावत के रास्ते से अलग माओ ने **दीर्घकालिक लोकयुद्ध** के क्रान्ति मार्ग का राजनीतिक एवं सैनिक सिद्धान्त कठिन क्रान्तिकारी संघर्षों के दौरान विकसित किया। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति देहातों में लाल आधारों का निर्माण करके, शहरों को घेरकर और इस प्रकार अन्तत: पूरे देश में राजनीतिक सत्ता को जीतकर ही विजयी हो सकती है। अपनी इस प्रस्थापना को उन्होंने व्यवहार में भी सिद्ध कर दिखाया।

भूमि क्रान्ति के कठिनतम दौर में प्रतिक्रान्तिकारी सेना की भारी शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने उस ऐतिहासिक **'लम्बे अभियान'** की शुरुआत की, जिसकी अतुलनीय शौर्य-गाथा पर दुनिया दंग रह गई। अक्टूबर, 1934 में शुरू हुए इस महा अभियान के दौरान लाल सेना ने प्रतिदिन शत्रुओं से लोहा लेते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रान्तों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुँचने तक बचे रहे। पर यह अकूत कुर्बानी रंग लाई। 'लम्बे अभियान' ने क्रान्ति के अग्निमुखी बीज पूरे देश के किसानों में बो दिये। माओ की भविष्यवाणी को चरितार्थ करती हुई करोड़ों किसान जनता एक प्रचण्ड, अदम्य तूफ़ान की तरह उठ खड़ी हुई। जापानी साम्राज्यवादियों को धूल चटाने के साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित च्याङ काइ शेक को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 को (ताइवान, हाङकाङ और मकाओ को छोड़कर) पूरे चीन को लाल कर देने का सपना साकार हो गया।

1949 के बाद : चीनी क्रान्ति की उत्तरकथा – एक और नये लम्बे अभियान की शुरुआत

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति- युद्धों को प्रेरणा और दिशा देने में 1949 की चीनी जनवादी क्रान्ति ने महती भूमिका निभाई। कोरिया, वियतनाम आदि देशों में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न जनवादी क्रान्तियों का रास्ता मूलत: चीनी क्रान्ति का ही रास्ता था। अफ्रीकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों ने भी चीनी रास्ते से बहुमूल्य सबक लेकर उपनिवेशवाद को पराजित करने में सफलता पाई।

चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद माओ ने कहा था, **"देशव्यापी स्तर पर जीत हासिल करना दस हज़ार *ली* लम्बे अभियान का पहला क़दम मात्र है। चीनी क्रान्ति महान है, लेकिन क्रान्ति के बाद का रास्ता तथा कार्य अधिक महान एवं अधिक कठिन है।"**

इन शब्दों में क्रान्ति का स्वागत करते हुए माओ ने एक बेहद पिछड़े देश को समाजवाद के प्रकाश स्तम्भ और विश्व क्रान्ति के आधार-क्षेत्र में रूपान्तरित कर देने के लिए चीनी के सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता को तैयार किया। लोक युद्ध के लम्बे वर्षों और आधार क्षेत्रों में व्यवस्था-संचालन के अनुभवों ने इस नई यात्रा में काफी मदद की। **मानव इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर भूमि के पुनर्वितरण** और विदेशी तथा दलाल पूँजीपतियों के कारख़ानों एवं पूँजी के राष्ट्रीकरण के साथ-साथ स्त्रियों को पूरी समानता देने सहित सामाजिक जीवन में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के साथ ही माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी और जनता समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में – एक ऐसी आत्मनिर्भर समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में जुट गई जो विश्व साम्राज्यवादी बाज़ार की दमघोंटू और विकलांग बना देने वाली जकड़बंदी से मुक्त हो। और जल्दी ही दुनिया ने यह चमत्कार भी घटित होते देखा। पचास के दशक में चीन की मेहनतकश आबादी के श्रम को प्रकृति के आगे एक अप्रतिरोध्य विराट शक्ति के रूप में सृजनशील और उत्पादक बनाकर अकाल, भुखमरी, बीमारियों अशिक्षा और पिछड़ेपन के लिए प्रसिद्ध देश का कायापलट कर दिया गया। दस वर्षों के भीतर बेरोजगारी का खात्मा हो गया। गाँवों से लेकर शहरों तक स्त्रियों की भारी आबादी चूल्हे-चौकठ से बाहर आकर कम्यूनों में सामाजिक उत्पादन से लेकर प्रबंधन एवं राजनीति तक के कामों में शिरकत करने लगी। स्वास्थ्य और शिक्षा की सेवाएं सर्वसुलभ हो गईं। वेश्यावृत्ति, नशाखोरी, जुआ, बाल मज़दूरी, भुखमरी आदि का नामोनिशान तक मिट गया। तूफानी नदियों को बाँधकर विनाशकारी बाढ़ों को समाप्त कर दिया गया और नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई सुविधाओं का तेज विस्तार किया गया। उत्पादन-टीमों, ब्रिगेडों और कम्यूनों ने दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपजाऊ सीढ़ीदार खेत बना डाले और सभी तरह की ऊसर-बंजर धरती

(पेज 11 पर जारी)

दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत के 70 वर्ष पूरे होने के मौके पर

इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने की पूँजीवादी कोशिशों के बावजूद इस सच्चाई को नहीं झुठलाया जा सकता

हिटलर को हराकर दुनिया को फासीवाद के राक्षस से मज़दूरों के राज ने ही बचाया था

साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा आपस में दुनिया के बँटवारे के लिए छेड़े गये महाविनाशकारी द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत के 70 वर्ष पूरे होने के मौके पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने एक बार फिर यह झूठा प्रचार शुरू कर दिया कि स्तालिन ने हिटलर के साथ समझौता करके उसे युद्ध छेड़ने का मौका दिया। इतिहास के तथ्यों को तोड़-मरोड़कर उनहोंने एक तरफ तो इस युद्ध में फासिस्टों के खिलाफ जीत का श्रेय खुद लेने की कोशिश की और दूसरी ओर तत्कालीन मज़दूरों के राज्य सोवियत संघ की नीतियों को युद्ध के लिए ज़िम्मेदार ठहराने की धूर्ततापूर्ण कोशिश भी की। दरअसल ऐसा करके साम्राज्यवादी देश एक तीर से दो निशाने साधने की की फिराक में रहे हैं। एक तरफ तो वे अपने खून से रंगे हाथों को विश्व की आम जनता से छिपाना चाहते हैं, दूसरी ओर वे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कहर से त्रस्त जनता के मन में समाजवादी विचारों की बढ़ती हुई लोकप्रियता को कम करने के लिए इसे समाजवाद के खिलाफ कुत्सा-प्रचार का हथकण्डा बनाना चाहते हैं।

सच्चाई यह है कि अपनी दो करोड़ जनता की बलि चढ़ाकर सोवियत संघ ने फ़ासिस्ट जर्मनी की सबसे बड़ी फ़ौज का कहर अकेले झेलते हुए न सिर्फ़ दुनिया में मज़दूरों के पहले राज्य की रक्षा की बल्कि हिटलरशाही को नेस्तनाबूद करके पूरी दुनिया को फ़ासीवादी बर्बरता से बचाया।

सच तो यह है कि स्तालिन हिटलर के सत्ता पर काबिज़ होने के समय से ही पश्चिमी देशों को लगातार फ़सीवाद के ख़तरे से आगाह कर रहे थे लेकिन उस वक़्त तमाम पश्चिमी देश हिटलर के साथ न सिर्फ़ समझौते कर रहे थे बल्कि उसे बढ़ावा दे रहे थे। स्तालिन पहले दिन से जानते थे कि हिटलर समाजवाद की मातृभूमि को नष्ट करने के लिए उस पर हमला ज़रूर करेगा। उन्होंने आत्मरक्षार्थ युद्ध की तैयारी के लिए थोड़ा समय लेने के वास्ते ही हिटलर के साथ अनाक्रमण सन्धि की थी जबकि दोनों पक्ष जानते थे कि यह सन्धि कुछ ही समय की मेहमान है। यही वजह थी कि सन्धि के बावजूद सोवियत संघ में समस्त संसाधनों को युद्ध की तैयारियों में लगा दिया गया था। दूसरी ओर, हिटलर ने भी अपनी सबसे बड़ी और अच्छी फ़ौजी डिवीज़नों को सोवियत संघ पर धावा बोलने के लिए बचाकर रखा था। इस फ़ौज की ताक़त उस फ़ौज से कई गुना थी जिसे लेकर हिटलर ने आध यूरोप को रौंद डाला थां रूस पर हमले के बाद भी पश्चिमी देशों ने लम्बे समय तक पश्चिम का मोर्चा नहीं खोला क्योंकि वे इस इन्तज़ार में थे कि हिटलर सोवियत संघ को चकनाचूर कर डालेगा। जब सोवियत फ़ौजों ने पूरी सोवियत जनता की ज़बर्दस्त मदद से जर्मन फ़ौजों को खदेड़ना शुरू कर दिया तब कहीं जाकर पश्चिमी देशों ने मोर्चा खोला।

दरअसल इस युद्ध के लिए साम्राज्यवादी ताक़तों की आपसी होड़ ज़िम्मेदार थी। फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका ने अपनी पूँजी विस्तार की हवस को मिटाने के लिए अपनी सैन्य ताकत के धौंस पर प्रथम विश्व युद्ध में विश्व का विभाजन कर लिया था। लेकिन इस बलपूर्ण विभाजन से जर्मनी, जापान व इटली नाखुश थे और अपनी अपमानजनक हार का बदला लेने के लिए तथा विश्व का पुनर्विभाजन अपनी शर्तों पर करने के मकसद से इस गुट ने द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत की। यही नहीं उनकी योजना सभी देशों में फ़ासीवादी तानाशाही कायम करने की थी। जर्मनी उराल तक समस्त यूरोप पर कब्जा करने का ख्वाब देख रहा था। इटली ''रोम साम्राज्य के पुनर्जन्म'' के बारे में सोच रहा था जिसमें अफ्रीकी महाद्वीप, निकट-मध्य तथा बाल्कन प्रायद्वीप शामिल होते जिसके फलस्वरूप भूमध्य सागर इटली का भीतरी सागर बन जाता। दूसरी ओर जापान प्रशान्त महासागर तथा उराल तक एशिया में आधिपत्य जमाना चाहता था। ब्रिटेन, अमेरिका व फ्रांस अपने साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धियों को परास्त करने और इन देशों के आक्रमण को सोवियत संघ की ओर मोड़ने की उम्मीद रखते थे।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात 28 जून, 1919 को वर्साई की शान्ति संधि हुई जो जर्मनी के लिहाज़ से बहुत अपमानजनक थी। इस संधि के फलस्वरूप जर्मनी को अपने युद्धपूर्व क्षेत्रफल के आठवें हिस्से और आबादी के बारहवें हिस्से से हाथ धोना पड़ा। उसके सभी उपनिवेश छिन गये, टैगो और कैमरून को ब्रिटेन और फ्रांस ने आपस में बाँट लिया। युद्ध में जान-माल ही हानि के लिए उसे भारी हरज़ाना देने पर विवश किया गया। जर्मनी की सशस्त्र सेनाओं की सीमा बाँध दी गयी थी। वास्तव में यह विजित पर विजेता की हुक्मशाही थी जिसे लेनिन ने एक लुटेरी सन्धि कहा था। इस अपमानजनक सन्धि की वजह से जर्मन जनता में गहरा असन्तोष था जिसे आगे चलकर नाज़ियों ने बुर्जुआ जनवादी सरकार के विरुद्ध भुनाया। इसके अतिरिक्त वर्साई संधि के द्वारा नवगठित सोवियत राज्य पर पश्चिमी शक्तियों के प्रभाव में स्थित प्रतिक्रियावादी सरकारों द्वारा शासित छोटे देशों का एक तथाकथित संघरोध घेरा बनाया गया था। एक तरह से यह एक कम्युनिज़्म विरोधी दीवार और सोवियत रूस पर हमले के लिए स्प्रिंगबोर्ड बनाने की साज़िश थी। वर्साई संधि के निर्माता यह दावा करते रहे कि वह युद्धों को हमेशा के लिए खत्म कर देगी लेकिन जैसा कि आगे साबित हुआ कि वर्साई में ही विश्व के पुनर्विभाजन के लिए विनाशकारी युद्धों की नींव रखी गयी थी।

मार्च 1939 में सोवियत संघ ने फासीवाद विरोधी गठबन्धन बनाने पर बातचीत शुरू की, लेकिन फ्रांस और ब्रिटेन ने पुनः ढुलमुल रवैया अपनाया। दरअसल ये देश ''मुँह में राम बगल में छुरी'' को चरितार्थ कर रहे थे। जून-अगस्त 1939 में गुप्त आंग्ल-जर्मन वार्ता हुई जिसका मकसद था ब्रिटेन के साम्राज्य की अखण्डता कायम करने के लिए हिटलर को पूर्वी मोर्चे पर खुली छूट। लेकिन हिटलर ने चालाकी दिखाते हुए पहले पश्चिमी देशों से निपटने का फैसला लिया और 20 अगस्त को अप्रत्याक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा जिसे बाद में सोवियत संघ ने इसलिए स्वीकार कर लिया जिससे कि उसे अपनी सेना को लामबन्द करने और युद्ध सामग्री के उत्पादन को बढ़ाने में समय मिल सके।

पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और फासिस्ट गुट के अन्तरविरोधों की परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में सामने आयी। सितम्बर 1939 को हिटलर की सेनाओं ने पोलैण्ड पर हमला बोल दिया। 3 सितम्बर 1939 को फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने पोलैण्ड की सहायता का वादा करते हुए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। लेकिन युद्ध की घोषणा के बावजूद पश्चिमी देश हिटलर को ''पूर्वी अभियान'' शुरू करने के लिए उकसा रहे थे। इस दौर में पश्चिमी देशों के युद्ध के दिखावे को सित्सक्रीग (बैठे-बैठे युद्ध), फ़ोनी वार (नकली युद्ध) इत्यादि नामों से जाना जाता है। इन परिस्थितियों में पोलैण्ड का एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। इसलिए सोवियत सेना ने कोई और चारा न देख 17 सितम्बर 1939 को पोलैण्ड की सीमा पार कर ली। इस प्रकार मुक्ति का निदान आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप पश्चिमी उक्रेन तथा पश्चिमी बेलारूस का पुनर्मिलन उक्रेनी तथा बेलारूस के सोवियत समाजवादी जनतंत्रों से हुआ। इसके अतिरिक्त बाल्टिक देशों में भी युद्ध प्रारम्भ होते ही नाज़ी जर्मनी की घुसपैठ बढ़ गयी जिसकी वजह से उन देशों की जनता में आक्रोश का माहौल था। इसकी परिणति जनविद्रोह के रूप में हुई जिसके द्वारा नाज़ी समर्थक सरकारों का तख्तापलट हुआ। जुलाई 1940 में इन देशों की लोकतांत्रिक संसदों ने सोवियत संघ से सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ में सम्मिलित करने का अनुरोध किया जिसे सोवियत संघ ने स्वीकार कर अपनी सामरिक स्थिति सुदृढ़ की।

दूसरी ओर फासिस्ट ताकतें एक के बाद एक नये क्षेत्रों पर कब्ज़ा करती जा रही थीं। मई 1940 तक जर्मन सेना डेनमार्क, नार्वे, बेल्जियम और लक्ज़ेमबर्ग तक पहुँच चुकी थी। 10 जून 1940 को जर्मन टैंक पेरिस के नज़दीक पहुँच चुके थे। साथ ही साथ इटली ने भी फ्रांस के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस की प्रतिक्रियावादी सरकार इन आक्रमणों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए जनता की लामबन्दी करने में असमर्थ थी। 14 जून 1940 को फ्रांस ने बिना किसी प्रतिरोध के पेरिस को जर्मनों के सुपुर्द कर दिया। इस तरह फ्रांस के दो-तिहाई हिस्से पर जर्मन सेना का कब्जा हो गया।

फ्रांस के आत्मसमर्पण के पश्चात समूचे विश्व में फासिस्ट ताकतों की बढ़त का खतरा मँडराने लगा। जिन नाजी नागों को पश्चिम साम्राज्यवादी देशों ने पाला पोसा था उन्होंने ही इन देशों को डस लिया। विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन की हालत बहुत ही दयनीय थी। जर्मन पनडुब्बियाँ सागर में ब्रिटिश जहाजों को एक-एक करके डुबोती जा रही थीं। अगस्त 1940 में जर्मन सेना ने लंदन, बर्मिंघम आदि प्रमुख ब्रिटिश शहरों पर बड़े पैमाने पर बमबारी की।

दिन पर दिन बढ़ते फासिस्ट खतरे से निपटने के लिए समूचे विश्व की जनता अपनी-अपनी सरकारों पर दबाव बना रही थी। रूज़वेल्ट और चर्चिल की सरकारों ने 22 जून 1941 को सोवियत संघ के समर्थन की अधिकृत घोषणा की। 7 दिसम्बर 1941 को जापान ने प्रशान्त महासागर में अमेरिका के मुख्य नौसैनिक अड्डे पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया। कुछ ही घण्टों में प्रशान्त महासागर का सम्पूर्ण नौसैनिक बेड़ा नष्ट हो गया। थोड़े ही समय में जापान ने मलाया, बर्मा, फिलीपींस, इण्डोनेशिया आदि पर कब्जा कर लिया।

हिटलर और पश्चिमी सैन्य राजनीतिक विशेषज्ञों की राय थी कि जर्मनी तीन महीने के अन्दर सोवियत संघ पर विजय प्राप्त कर लेगा। इस दम्भ का कारण जर्मन सेनाओं की अत्याधुनिक सैन्य शक्ति थी। पश्चिमी देशों द्वारा युद्ध में दूसरा मोर्चा खोलने में जान-बूझकर देरी करने से जर्मनी को यह मौका मिल गया कि वह अपनी सैन्य शक्ति का अधिकतम हिस्सा सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध में झोंके। पश्चिमी देशों की इस मौकापरस्ती को माओ ने पहाड़ की चोटी पर बैठकर नीचे शेरों की लड़ाई देखने के समान बताया था। परन्तु भविष्य की घटनाओं ने सिद्ध किया कि हिटलर का सोवियत संघ पर आक्रमण करना एक पागल सियार की भाँति था जो मति मारी जाने पर गाँव की ओर भागता है। हालाँकि शुरुआती दौर में सोवियत सेना हारती नज़र आ रही थी, लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया सोवियत संघ की स्थिति सुदृढ़ होती गयी। स्तालिन ने स्वयं मास्को की रक्षा का संचालन किया और लाल सेना की बागडोर अपने हाथ में ली। युद्ध के ख़तरे से निपटने के लिए राज्य सुरक्षा समिति बनायी गयी जिसके अध्यक्ष स्वयं स्तालिन थे। उन्होंने समाजवादी मातृभूमि की रक्षा के लिए उठ खड़े होने का सोवियत जनता का आह्वान किया। फ़ासिस्टों से सिर्फ़ सोवियत फ़ौज ही नहीं लड़ रही थी। पूरी जनता ही इस लड़ाई में शामिल हो गयी थी। हज़ारों छोट-बड़े छापामार दस्तों ने जर्मन सेना पर हमले कर-करके उनकी ताक़त निचोड़ डाली और उनकी सप्लाई की लाइनें काट डालीं।

स्तालिनग्राद में महीनों चली लड़ाई में जर्मनों की हार के साथ ही सोवियत संघ से उनको खदेड़ने का सिलसिला शुरू हो गया।

अमेरिकी जनरल डगलस मैकार्थर ने भी माना था कि जितने बड़े पैमाने पर और जिस शौर्य के साथ स्तालिनग्राद का युद्ध लड़ा गया था उससे जो सैनिक उपलब्धियाँ हासिल हुईं वे समूचे इतिहास में अप्रतिम थीं। 1941 में जब नाजियों ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया था तो पूँजीवादी जगत यह आस लगाये बैठा था कि कुछ ही समय में साम्यवाद का सफाया हो जायेगा लेकिन हिटलर के साथ-साथ पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने भी सोवियत समाजवाद की ताकत और अपने समाज की हर कीमत पर रक्षा करने वाले सोवियत जनता की अकूत इच्छाशक्ति को कम करके आँका था।

स्तालिनग्राद की निर्णायक लड़ाई में नाजी सेना को पटखनी देने के बाद 1944 की शुरुआत में लाल सेना को कई जीतें मिलीं। लेनिनग्राद नाकेबन्दी से मुक्त कर लिया गया। उक्रेन भी पूरी तरह से मुक्त हो गया। इसी तरह चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया भी मुक्त हुए। पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के मन में मज़दूर क्रान्ति का भूत फिर सताने लगा। ऐसे में ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका ने आख़िरकार फ्रांस के उत्तरी तटक्षेत्र में सैनिक उतारकर दूसरा मोर्चा खोला। 6 जून 1944 को नार्मंडी में पश्चिमी देशों की सेनाओं ने जर्मन सेना को शिकस्त दी। नार्मंडी की विजय को पश्चिमी साम्राज्यवादी द्वितीय विश्व युद्ध का सबसे निर्णायक मोड़ बताते हैं जबकि सच्चाई यह है कि हिटलर को निर्णायक शिकस्त स्तालिनग्राद की लड़ाई में ही मिल चुकी थी और उसके बाद उसकी हार लगभग सुनिश्चित थी।

जर्मनी के आत्मसमर्पण करने के बाद जापान की हार सुनिश्चित होने के बावजूद अमेरिका ने 6 और 8 अगस्त को क्रमशः हिरोशिमा और नागासाकी शहरों में परमाणु बम गिराये जिससे अकूत जानमाल की हानि हुई। दरअसल यह मानवद्रोही कार्यवाई युद्धोपरान्त विश्व के शक्ति सन्तुलन में अमेरिका को चौधराहट कायम करने के मकसद से की गयी थी। युद्ध के दौरान सोवियत संघ की निर्णायक भूमिका से उसकी प्रतिष्ठा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुत बढ़ गयी थी। यहाँ तक पश्चिमी मीडिया में स्तालिन को 'अंकल जो' करके सम्बोधित किया जाता था। लेकिन सोवियत संघ की बढ़ती प्रतिष्ठा साम्राज्यवादियों के लिए अशुभ संकेत था और इसीलिए शक्ति सन्तुलन अपने पक्ष में करने के लिए अमेरिकी शासकों ने नागरिक आबादी पर अणु बम फेंकने जैसे घृणित कार्य को अंजाम दिया।

निचोड़ के तौर पर यह कहा जा सकता है कि युद्ध और हिंसा पूँजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्था की ही उपज है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात हालाँकि पूरे विश्व के स्तर पर कोई युद्ध नहीं हुआ लेकिन साम्राज्यवादी अन्तरविरोध लगातार विश्व के किसी ने किसी हिस्से में जनता पर विनाशकारी युद्ध थोपते रहे हैं। कोरिया, वियतनाम, फिलीस्तीन, ईरान, इराक और अफगानिस्तान के युद्धों के अलावा अफ्रीका के कई देशों में बरसों से जारी गृहयुद्ध भी साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा उकसाये और भड़काये गये हैं और कई में इनकी सीधी भागीदारी रही है।

साम्राज्यवादी शासक इतिहास को मनगढ़न्त रूप से पेश कर अपने खून से रंगे हाथों को कितना भी धोने की कोशिश कर लें, पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट द्वारा पैदा मानवद्रोही युद्ध लगातार उनकी कलई खोलते रहेंगे। मानवता को युद्ध और हिंसा से निजात पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में मिल ही नहीं सकती। पूँजीवादी व्यवस्था को दफनाकर ही एक शान्तिपूर्ण युद्धरहित विश्व की कल्पना की जा सकती है।

– आनन्द सिंह

अदम्य बोल्शेविक – नताशा

एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी (दसवीं क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोयलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। – सम्पादक

(पिछले अंक से आगे)

गृह युद्ध समाप्त हो गया। पार्टी ने फ़ौरन मोर्चा बदलने का आह्वान किया – श्वेतों के ख़िलाफ़ युद्ध के मोर्चे से बदलकर आर्थिक बर्बादी से संघर्ष का मोर्चा खोलने का आह्वान किया। पार्टी की क़तारों और महिला विभागों के काम में अनिश्चय और ऊहापोह की स्थिति से संक्रमण का दौर और भी जटिल हो गया था। लेकिन समोइलोवा, हमेशा की अपराजेय बोल्शेविक नताशा, किसी भी तरह के ऊहापोह से मुक्त थीं, उनके सामने मार्ग स्पष्ट था और उन्होंने महिला विभागों को समाप्त करने की किसी भी कोशिश का डटकर प्रतिरोध किया। इस काम में पार्टी की केन्द्रीय समिति ने उनका साथ दिया।

अब मज़दूर फ़ैक्टरियों में वापस लौट आये थे, और किसान गाँवों में, स्त्रियों के बीच दो लाइनों पर कामों को आगे बढ़ाना था : पहला, प्रतिनिधि मण्डलों की बैठकों के शैक्षणिक कार्यों को बढ़ाकर, स्टडी सर्किल और छोटी अवधि के कोर्स चलाकर, मज़दूरों के कॉलेजों के लिए बेहतरीन कार्यकर्ताओं की नियुक्ति आदि करने का काम कर स्त्रियों को अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध कराना; और दूसरा, उन स्त्री मज़दूरों की, जो अभी भी फ़ैक्टरियों में थीं, अपने नये कामों के साथ तालमेल बिठाने, उत्पादन बढ़ाने और अपने कॉमरेडों, यानी पुरुषों को उत्कृष्टता में अपने से आगे न होने देने में उनकी मदद करना।

समोइलोवा ने जल्दी ही इन समस्याओं के समाधान का रास्ता खोज लिया। जैसेकि स्त्री मज़दूरों को सम्बन्धित उद्योग में उत्पादन की प्रक्रिया, कारख़ाने की तकनीक आदि से अवगत कराने के लिए उद्योग की विभिन्न शाखाओं मसलन कपड़ा उद्योग, सुई उद्योग के उत्पादन सम्मेलन और उत्पादन चक्र आयोजित करना। अब इन कामों को ट्रेडयूनियन से ज़्यादा घनिष्टता के साथ जोड़ने का प्रश्न उठा और तब ट्रेडयूनियन की महिला संगठनकर्ताओं की नियुक्ति हुई।

समोइलोवा ने लाखों औरतों – मज़दूर और किसान औरतों और तमाम मेहनतकशों को आर्थिक तबाही विरोधी संघर्ष में खींचने के लिए ज़बरदस्त आन्दोलनात्मक काम किये। उन्होंने सिलसिलेवार पर्चे लिखे, भाषण दिये, ग़ैरपार्टी सम्मेलन आयोजित किये और ख़तरे से आगाह करते हुए, और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तबाही के ख़िलाफ़ आम जनता को संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करते हुए आन्दोलनपरक स्टीमर 'रेड स्टार' से वोल्गा और कामा के किनारे-किनारे लम्बी यात्राएँ कीं। अपने आन्दोलनपरक भाषणों में वह सटीक आँकड़े देने, सभी सवालों का गहन अध्ययन करने और देश के आर्थिक जीवन को संचालित करने वाली सोवियत संस्थाओं को इस काम से जोड़ने में कभी नहीं चूकती थीं। उन्होंने अपने काम में ज़बरदस्त आर्थिक और प्रशासनिक क्षमता का प्रदर्शन किया।

स्त्री मज़दूरों ने उनके आह्वान का जवाब दिया : "औद्योगिक मोर्चे पर आगे बढ़ो! पढ़ो, अपनी योग्यता बढ़ाओ।"

नताशा के जीवन का व्यक्तिगत पहलू और काम के मोर्चे पर डटे हुए उनकी मृत्यु

सेमोइलोवा की बोल्शेविक क्रान्तिकारी अर्कादी अलेक्सान्द्रोविच सेमाइलोव से शादी हुई थी। उनकी जोड़ी असाधारण रूप से एक-दूसरे के अनुरूप जोड़ी थी, एक साथ काम करने और अपने काम से सीखने वाली जोड़ी। उनकी पहली मुलाक़ात ओडेसा में हुई थी और रोस्तोव-आन-डॉन के मज़दूर तबक़ों के बीच दोनों ने प्रचारक के रूप में एक साथ काम किया था। वे मास्को में साथ-साथ रहे, जहाँ एक ज़माने में सेमोइलोव मास्को ज़िला पार्टी संगठन के भूमिगत अख़बार 'द स्ट्रगल' के सम्पादक थे। "वर्कर्स क्रॉनिकल" सेक्शन का कार्यभार सँभालकर सेमोइलोवा ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। इसके लिए उन्होंने बहुत-सी सामग्री अपनी यात्राओं के दौरान जुटायी थी। वे साथ-साथ लुगान्स्क गये। वह "अन्तोन" के नाम से काम करते थे और सेमोइलोवा ने अपना नाम "नताशा" ही बहाल रखा। वे न सिर्फ़ प्यार से बल्कि साझा दृष्टिकोण और प्रयासों से भी परस्पर जुड़े हुए थे। बाद में, 1913 और 1914 में दोनों ने 'प्रावदा' के सम्पादकीय कार्यालय में काम किया, उनके पति "ए. यूरिएव" के उपनाम से लिखते थे।

वकील की हैसियत से सेमोइलोव ने बहुत-से राजनीतिक मुक़दमों में कॉमरेडों की पैरवी की और वे ट्रेड-यूनियनों के क़ानूनी सलाहकार थे।

बहुसंख्य कॉमरेड जो सेमोइलोवा को उनके काम से जानते थे, हमेशा उनका बहुत सम्मान करते थे और उन्हें "सख़्त नताशा", "दृढ़ निश्चयी बोल्शेविक", "साम्यवाद की अडिग समर्थक", वग़ैरह कहते थे। वह हमेशा आत्मसंयमी रहीं। लेकिन अगर कोई काम उन्हें गम्भीरता से प्रभावित करता था तो वह अपनी सामर्थ्यभर पूरी गहनता से उसे पूरा करती थीं। वह संवेदनशील स्वभाव की थीं, लेकिन भावुक नहीं थीं। वह प्राय: अन्दर तक भावविभोर हो जातीं और उनका चेहरा ओज से दमक उठता और आँखें आसुँओं से भर जातीं।

उनके स्वभाव की यह विशेषता थी कि वह बहुत गहरे तक आन्दोलित हो जाती थीं, सामाजिक घटनाओं से विक्षुब्ध हो उठती थीं और उनकी यही विशेषता उन्हें दूसरे बहुत-से कॉमरेडों से अलग कर देती थी। ये भावनाएँ इतनी गहरी होती थीं कि कभी-कभी उनके अंश सारी ज़िन्दगी बने रह जाते। इसी तरह 1897 में वह वेत्रोवा नामक छात्रा की क़ैद में हुई मृत्यु से विचलित हो गयीं और इस घटना पर सेमोइलोवा के पहले भाषण ने उसका भविष्य तय कर दिया – उन्होंने क्रान्तिकारी बनने का फ़ैसला कर लिया।

दूसरी घटना जिसने उन्हें अन्दर तक आन्दोलित किया, वह ओडेस्सा का आन्दोलन थी। ओडेस्सा की घटनाओं और उनके अपने कटु अनुभवों ने इस तथ्य की ओर से उनकी आँखें खोल दीं कि मेंशेविक लेबर पार्टी के आकाओं के एजेण्ट हैं, कि वे मज़दूरों के दुश्मन हैं। इस अनुभूति ने मेंशेविकों और बिचौलियों के प्रति उनकी रणनीति तय कर दी। वह कभी विचलित नहीं हुई और लेनिन की रणनीतियों की सटीकता को लेकर हमेशा आश्वस्त रहीं। उस समय जबकि अभी सेमोइलोवा अख़बार की मामूली और अशिक्षित कर्मचारी ही थीं, लेनिन ने विसर्जनवादियों के ख़िलाफ़ उनके वाद-विवाद को स्वीकृति दे दी थी।

हमें 1921 में अस्त्राखन में उनके काम की चर्चा अवश्य करनी चाहिए, जिसका समापन उनकी मौत के साथ हुआ।

अस्त्राखन के मत्स्य क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि ऐसे वक़्त में वे मज़दूरों और लाल सेना के लिए भोजन आपूर्ति के अक्षय स्रोत थे, जबकि कुलकों के वर्गीय प्रतिरोध ने देश की मांस आपूर्ति रोक रखी थी। चरम आर्थिक तनाव के इस दौर में जब 1921 के आसन्न अकाल की छाया तैर रही थी – पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इन मत्स्य क्षेत्रों के महत्त्व को पहचाना और सेमोइलोवा को पोत के राजनीतिक विभाग की मुखिया बनाकर, प्रतिरोध स्टीमर, रेड स्टार को अस्त्राखन भेजा गया।

स्टीमर वसन्त के प्रारम्भ (अप्रैल 1921) में रवाना हो गया ताकि मछलियाँ पकड़ने के वसन्त के मौसम में समय से पहुँच सके, जो वोल्गा के नौचालन योग्य होने, यानी बर्फ के पिघलने और वसन्त की बाढ़ आने के साथ शुरू होता था। अपनी रवानगी से पहले सेमोइलोवा ने उस ज़िले की आर्थिक क्षमता सम्बन्धी तमाम उपलब्ध आँकड़ों का अध्ययन किया। उससे भी पहले 1918 में जब पूरे रूस में सोवियत सत्ता का संघर्ष चल रहा था, उन्हें अपने कॉमरेड और पति से इन मत्स्य क्षेत्रों के बारे में कुछ बहुत ही सटीक सूचनाएँ मिली थीं, जो 1918 के मछलियाँ पकड़ने के मौसम यानी पतझड़ में वहाँ काम करने गये थे और जिनकी वहीं पर मृत्यु हो गयी थी।

उनकी मृत्यु ने उन्हें बहुत ही गहराई से प्रभावित किया। यह साम्यवाद के लिए एक ऐसे लड़ाके की मृत्यु का अनकहा दृष्टान्त था, जो दुनिया की सबसे बड़ी क्रान्ति का प्रत्यक्ष गवाह रहा था और जिसके लिए उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। अजनबियों के बीच, गुप्त शत्रुओं के बीच या उदासीन लोगों के बीच सेमोयलोव अकेले थे। उन्हें पहले पेचिस हो गयी, और उसके बाद जब वह अस्पताल में बिस्तर पर पड़े थे, वहाँ उन्हें मीयादी बुखार हो गया और उसी के चलते उनकी मृत्यु हो गयी। और अब अपने गम को कलेजे में छिपाये सेमोइलोवा ख़ुद भी उसी मोर्चे पर रवाना हो रही थीं। (अगले अंक में जारी)

अनुवाद: विजयप्रकाश सिंह

चीनी क्रान्ति दुनिया की मेहनतकश जनता के लिए प्रेरणा का अक्षयस्रोत बनी रहेगी!

(पेज 9 से आगे)

को अन्नपूर्णा बना दिया गया। सड़कों-रेलमार्गों-पुलों का अभूतपूर्व तेज गति से विकास हुआ। 1960 तक चीन बिजली और लोहा सहित तमाम बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों का अपना ताना-बाना खड़ा कर चुका था।

अपने देश और अपनी पार्टी के भीतर ऐसे पूँजीवादी पथगामियों से संघर्ष करने के साथ ही माओ ने सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय और ख्रुश्चेव के नेतृत्व में नयी पूँजीवादी सत्ता की स्थापना का भी गहन विश्लेषण किया और इसे समझने के बाद उन्होंने रूसी पार्टी के ख़िलाफ़ **'महान बहस'** चलाकर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रति अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का तो निर्वाह किया ही, अपने देश में भी समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बारे में वे ऐतिहासिक महत्त्व वाले नतीजों की दिशा में आगे बढ़ चले। इसी का नतीजा थी – **1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जो न केवल चीनी क्रान्ति की यात्रा का बल्कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति की यात्रा का अब तक का अग्रतम मील का पत्थर है।**

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को जारी रखने की आम दिशा और उसके मार्ग की जो आम रूपरेखा प्रस्तुत की वह पूरी दुनिया के सभी देशों के लिए तबतक प्रासंगिक रहेगी जबतक कि मानवता कम्युनिज़्म की मंज़िल में प्रविष्ट नहीं हो जाती।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इस बात को और अधिक ठोस रूप में स्पष्ट किया गया कि समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद रहते हैं और वर्ग-संघर्ष लगातार जटिल और विकट रूप में जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग को धीरे-धीरे आगे बढ़कर फिर से सत्ता हथिया लेने से रोकने के लिए उसपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना होगा और उसके ख़िलाफ़ क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। पूँजीवादी पुनर्स्थापना के भौतिक अधिकार के समूल नाश के लिए बुर्जुआ अधिकारों, भौतिक प्रोत्साहन (लालच देकर काम कराना) और हर तरह की असमानता को कम करते जाना तथा माल-उत्पादन को क्रमश: समाप्त करते जाने के साथ ही माओ ने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, सामाजिक आचार-व्यवहार-संस्था-संस्कार आदि अधिरचना (ऊपरी ढाँचा) के सभी अंगों के सतत् क्रान्तिकारीकरण को अपरिहार्य बताया। चीन में 1966 से 1976 तक जारी सांस्कृतिक क्रान्ति ने न केवल चीन में समाजवाद के विकास को ऊंची छलांगें दीं, बल्कि पूरी दुनिया के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को संशोधनवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नयी प्रेरणा, नयी युयुत्सा (लड़ने की चाहत), नयी ऊर्जा और नयी दिशा देने का काम किया।

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद चीन में समाजवादी क्रान्ति की यात्रा 27 वर्षों तक जारी रही। 1976 में, सांस्कृतिक क्रान्ति के दस वर्षों के युगान्तरकारी प्रयोग के बावजूद, माओ की मृत्यु के बाद वहाँ सर्वहारा क्रान्तिकारी पराजित हो गये और सत्तासीन पूँजीवादी पथगामियों ने समाजवाद में हुई प्रगति के ही आधार पर पूँजीवादी विकास को तेज़ी से आगे बढ़ाया। आज भी चीनी अर्थव्यवस्था तेज़ गति से विकसित हो रही है, पर व्यापक मेहनतकश जनता के लिए यह विकास नहीं, विनाश है। पिछले 23 वर्षों के भीतर चीन में धनी-गरीब के बीच की खाई भी अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। बेरोजगारों की संख्या 30 करोड़ हो चुकी है। कम्यूनों को तोड़ दिया गया है। निजी स्वामित्व की अनेक रूपों में बहाली कर दी गयी है। विदेशी पूँजी और संस्कृति के लिए देश के दरवाज़ों को एकदम खोल दिया गया है और चीनी जनता के श्रम से मुनाफ़ा निचोड़कर पश्चिम अपने संकट का बोझ हल्का कर रहा है। आज के चीन में तमाम पुरानी सामाजिक बुराइयाँ वापस लौट आयी हैं, जैसे वेश्यावृत्ति, भीख माँगना, घूसखोरी, चोरी, तरह-तरह के भ्रष्टाचार और स्त्री-विरोधी अपराध। कहावत है कि जब प्रेत आयेगा तो श्मशान के सभी साथियों को साथ लायेगा। पूँजीवादी विकास इन बुराइयों के साथ ही होगा, चाहे वह "बाज़ार समाजवाद" के नाम पर ही क्यों न हो!

चीन में क्रान्ति की यह हार चीनी जनता और पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग के लिए एक भारी धक्का तो है, पर यह इतिहास का अन्त नहीं है। इतिहास का रास्ता ही कुछ ऐसा होता है – चढ़ावों-उतारों से भरा हुआ। अक्सर ऐसा होता रहा है कि रास्ता खोजने वाली महान क्रान्तियाँ हारती रही हैं और आगे की मुकम्मिल विजयी क्रान्तियों के लिए आधार तैयार करती रही हैं। आज की संकटग्रस्त, आक्रामक और मेहनतकश अवाम पर कहर बरपा करने वाली साम्राज्यवादी दुनिया फिर सर्वहारा वर्ग को आमन्त्रण दे रही है कि वह उस पर टूट पड़े और इस बार उसकी कब्र ज़रा गहरी खोदे। सर्वहारा क्रान्तियों के नये चक्र के लिए – इक्कीसवीं सदी के सर्वहारा योद्धाओं के लिए बीसवीं सदी की दोनों महानतम क्रान्तियों – सोवियत क्रान्ति और चीनी क्रान्ति की शिक्षाएँ बहुमूल्य होंगी, ये शिक्षाएं उनका हथियार होंगी।

मगर इसके लिए ज़रूरी है कि माओ की शिक्षाओं को सही अर्थ में समझकर अपने देश और समाज की परिस्थितियों के अनुसार लागू किया जाये। किसी भी क्रान्ति का अन्धानुकरण नहीं किया जा सकता। माओ ने अपने देश में इस बात को लागू करके ही क्रान्ति का नया रास्ता ढूँढ़ने में सफलता पायी थी। लेकिन आज माओ का अनुयायी होने का दम भरने वाले बहुत से क्रान्तिवादी समूह उनकी इस महत्वपूर्ण शिक्षा को भुलाकर देशकाल परिस्थितियों से कटकर क्रानित के नाम पर जो कार्रवाइयाँ कर रहे हैं, उनसे क्रान्ति की मदद नहीं वरन नुकसान ही हो रहा है। सच्चे क्रान्तिकारियों को याद रखना होगा कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता की सबसे पहली कुंजी यह थी कि उसने हर-हमेशा क्रानितकारी जनदिशा को लागू किया।

(चीनी क्रान्ति के महत्त्व और उसकी प्रासंगिकता के बारे में विस्तार से जानने के लिए पढ़ें 'बिगुल' के अक्टूबर 1999 अंक में प्रकाशित लेख – 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता'। आप इस लेख को 'बिगुल' की वेबसाइट http://sites.google.com/site/bigulakhbar पर भी पढ़ सकते हैं। – सं.)

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

गोरखपुर में मज़दूरों की एकजुटता के आगे झुके मिल मालिक

आन्दोलन की आंशिक जीत, लेकिन मालिकान के अड़ियल रवैये के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी

(पेज 1 से आगे)

है, इस बात को खुद मालिकान से ज़्यादा अच्छी तरह भला कौन जानता है! प्रशासन और श्रम विभाग के अफ़सर तो उनके पक्ष में थे ही, शहर के भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ भी खुलकर उद्योगपतियों के पक्ष में उतर आये और मज़दूर आन्दोलन के ख़िलाफ़ बाकायदा मोर्चा खोल दिया। सांसद महोदय ने फ़ैक्टरी मालिकों और गोरखपुर चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री के सुर में सुर मिलाकर लगातार ऐसे बयान दिये कि इस आन्दोलन को कुछ "बाहरी तत्व" और "माओवादी आतंकवादी" चला रहे हैं। उन्होंने कहा कि ये लोग मज़दूरों को भड़काकर पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में अशान्ति फैलाने की साज़िश कर रहे हैं। सीधे-सीध उद्योगपतियों का पक्ष लेते हुए वे यहाँ तक बोल गये कि गोरखपुर के सभी कारख़ानों में मज़दूरों को उचित मज़दूरी दी जाती है और मज़दूरों की माँगें "अनैतिक" हैं। वे यह भी भूल गये कि मज़दूरों की मुख्य माँग सरकार द्वारा तय "न्यूनतम मज़दूरी" देने की है और मालिकान हर वार्ता में इसे मानने से इंकार करते रहे हैं। इतना ही नहीं, योगी आदित्यनाथ ने पूरे मामले को साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश में यह मनगढ़न्त आरोप भी मढ़ दिया कि इस आन्दोलन के पीछे चर्च का भी हाथ है।

सांसद के पीछे-पीछे भाजपा और सपा के कुछ नेताओं ने भी इसी किस्म के बयान देने शुरू कर दिये। पुलिस के आईजी सहित कई अफ़सर सीधे परोक्ष रूप से धमकियाँ दे रहे थे कि आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे 'बिगुल' के लोगों को फ़र्जी मुक़दमों में अन्दर कर दिया जायेगा या ज़िलाबदर कर दिया जायेगा। अख़बारों में ऐसी झूठी ख़बरें छपवाने की पुलिस की ओर से कोशिश की गयी कि आन्दोलन के नेताओं के "नक्सली आतंकवादियों" से सम्बन्ध हैं और इसके झूठे प्रमाण गिनाये गये। कुछ का एनकाउण्टर तक करा देने की धमिकियाँ दी गयीं। लेकिन मज़दूर पूरी तरह एकजुट थे और ऐसे दुष्प्रचारों से डरने के बजाय उनका लड़ने का हौसला और बढ़ गया। अब कुछ फ़ैक्टरी मालिक ही नहीं पूरी व्यवस्था की लुटेरी असलियत उनके सामने नंगी हो गयी थी।

गोरखपुर ही नहीं, पूरे देश में मज़दूर संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, छात्रों-युवाओं ने एक न्यायसंगत मज़दूर आन्दोलन को बदनाम करके इसे कुचलने की इस साज़िश का पुरज़ोर विरोध किया तथा ज़िला प्रशासन से लेकर उत्तर प्रदेश के श्रममन्त्री, मुख्यमन्त्री और राज्यपाल को फ़ैक्स, ईमेल और फ़ोन के ज़रिये अपना कड़ा विरोध जताया। दिल्ली और लखनऊ के अनेक बुद्धिजीवियों, प्रधानमन्त्री के नाम लिखे पत्र में कहा कि एक ओर तो वे बयान देते है कि "माओवादी आतंकवाद" के पैदा होने के लिए सामाजिक-आर्थिक कारणों को समझना होगा, दूसरी ओर उन्हीं का प्रशासन एक न्यायपूर्ण आन्दोलन को "माओवादी साज़िश" कहकर यह संदेश दे रहा है कि ग़रीबों-उत्पीड़ितों के बुनियादी हक़ों के लिए संघर्ष को सरकार आतंकवाद मानती है। गोरखपुर के अनेक ट्रेडयूनियनों तथा जनसंगठनों ने भी योगी के बयान की निन्दा करते हुए आन्दोलन के दमन के प्रयासों का विरोध किया। संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा ने प्रेस कांफ्रेंस करके योगी के बयानों का करारा जवाब दिया और कहा कि पूर्वी उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विकास को बाधित करने के लिए मज़दूर नहीं बल्कि मज़दूरों के तमाम हक़ मारकर उनकी हड्डियाँ निचोड़ने वाले उद्योगपति और उनके हाथों बिके हुए अफ़सर ज़िम्मेदार हैं।

चौतरफ़ा दबाव में आकर प्रशासन को समझौता कराने के लिए बाध्य होना पड़ा। लेकिन इसके पहले मज़दूरों को क़दम-क़दम पर मुश्किलों से लड़ना पड़ा, और उन्होंने संघर्ष के नये-नये तरीके विकसित किये।

ज़िलाधिकारी कार्यालय पर धरना देते मज़दूर

कलेक्ट्रेट परिसर में डेरा डाले मज़दूर खाना बनाते हुए

पिछले तीन अगस्त को ज्ञापन देने के साथ शुरू हुए आन्दोलन के दौरान करीब 9 चक्र वार्ताओं के बाद भी कोई हल निकलता न देख 11 सितम्बर को मज़दूरों ने कलक्ट्रेट में क्रमिक अनशन शुरू कर दिया था और सैकड़ों मज़दूर वहीं डेरा डालकर बैठ गये थे। प्रशासन द्वारा अगले दिन समझौता कराने के ठोस आश्वासन के बाद ही आधी रात के वक्त मज़दूर वहाँ से उठे। ज़िला प्रशासन के दबाव डालने पर मालिक पवन बथवाल और किशन बथवाल 12 सितम्बर को एस.डी.एम. के समक्ष वार्ता के लिए पहुँचे लेकिन "बाहरी लोगों" यानी बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को वार्ता में शामिल नहीं करने पर अड़ गये। प्रशासन की ओर से पाँच अगुआ मज़दूरों को वार्ता के लिए बुलाया गया लेकिन उन मज़दूरों ने भीतर जाते ही ऐलान कर दिया कि 'बिगुल' के साथियों के बिना वार्ता नहीं होगी। मज़दूरों के अड़ जाने पर एस.डी.एम. ने 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के तपीश मैंदोला और प्रशान्त को भी बुला लिया। एस.डी.एम. द्वारा डी.एल.सी. के सामने लिखित समझौता करने का निर्देश देने के बाद मज़दूर राज़ी हुए कि 13 सितम्बर से काम पर लौट आयेंगे। लेकिन डी.एल.सी. कार्यालय में मालिक के प्रतिनिधि फिर अपनी बात से पलट गये और न्यूनतम मज़दूरी देने से साफ़ इंकार कर दिया।

अगले दिन 13 सितम्बर को मालिकों ने गेट पर तालाबन्दी की नोटिस लगवा दी। इसी दिन बरगदवा की कई फ़ैक्टरियों के मज़दूरों ने एक साथ मॉडर्न फ़ैक्टरी पर गेट मीटिंग करके फ़ैसला लिया कि अब बथवाल के ख़िलाफ़ लड़ाई को और तेज़ किया जायेगा। मज़दूरों ने कहा कि अगर सारे मिल मालिक एक हो सकते हैं तो मज़दूर भी एक हो सकते हैं। 14 सितम्बर को एक विशाल जुलूस निकाला गया जिसमें अंकुर उद्योग लि., वी.एन. डायर्स धागा मिल, कपड़ा मिल, जालानजी पॉलीटेक्स मिल, लक्ष्मी साइकिल रिम तथा मॉडर्न लेमिनेटर्स व मॉडर्न पैकेजिंग के 1000 से ज़्यादा मज़दूर शामिल थे। ज़िलाधिकारी कार्यालय पर मज़दूरों ने विरोध स्वरूप श्रम क़ानूनों की किताबों को जलाया। साथ में "श्रम क़ानून है या भ्रम क़ानून", "श्रम क़ानून धोखा है", लागू नहीं करना था तो बनाया ही क्यों", "डी.एल.सी. के मुँह में मालिक का मुर्गा है, ज़िला प्रशासन मुर्दा है" जैसे नारे भी जोर-शोर से लग रहे थे। दोपहर बाद खूब जोर की बारिश हुई, दो घण्टा भीगते हुए भी सभा चलती रही, कोई भी हिला नहीं। मज़दूरों के इस जुझारूपन को देखकर प्रशासन के हाथ-पाँव फूलने शुरू हो गये थे। शाम 4.00 बजे सिटी मजिस्ट्रेट ने आकर ज्ञापन लिया तथा मज़दूरों से मामला सुलझाने के लिए 10 दिन का समय माँगा। मज़दूर और समय देने के लिए तैयार हो गये यह जानते हुए कि यह समय सिर्फ़ उन्हें थकाकर तोड़ने के लिए लिया गया है।

इस दौरान वार्ताओं के एकाध नाटक के बाद जब 23 सितम्बर को वार्ता के लिए मज़दूर पहुँचे तो मालिक पक्ष तथा प्रशासन की ओर से कोई नहीं आया। मज़दूर किसी भी परिस्थिति के लिए मानसिक रूप से तैयार थे। वह सबका नंगा चेहरा अपनी आँखों से देख रहे थे। शाम तक यह स्पष्ट हो गया कि अब कोई नहीं आयेगा। फिर एक घण्टे के अन्दर फ़ैक्ट्री गेट से 8 किमी. पैदल चलकर सैकड़ों मज़दूर बैनर-झण्डा, आटे की बोरी, कण्डे, आलू, प्याज़ लिये हुए ज़िलाधिकारी कार्यालय पर पहुँच गये। यह ख़बर पाकर जब डी.एल.सी. भागे हुए वहाँ पहुँचे तो मज़दूरों ने कहा कि अब हमारी बस एक ही माँग है। हमारा माँगपत्र वापस कर दो और लिखकर दे दो कि हम श्रम क़ानून लागू कराने में असमर्थ हैं। इसी बीच ज़िलाधिकारी परिसर में आग जलाकर लिट्टी-चोखा बनाने की तैयारियाँ शुरू हो गयीं। घबराये हुए सिटी मजिस्ट्रेट तथा सी.ओ. कैण्ट पुलिस फोर्स लेकर पहुँच गये। काफी देर बहस के बाद सिटी मजिस्ट्रेट तथा डी.एल.सी. ने लिखित दिया कि कल समझौता कराकर सारे श्रम क़ानूनों का पालन सुनिश्चित कराया जायेगा। तब जाकर मज़दूर वहाँ से हटकर 1.00 बजे रात को वापस कम्पनी गेट पर पहुँचे। महिलाओं को डी.एल.सी. की गाड़ी से छोड़ा गया।

फिर 24 सितम्बर को ज़िलाधिकारी के समक्ष वार्ता हुई जिसमें मालिक पक्ष से पवन बथवाल, सात मज़दूर प्रतिनिधि और मज़दूरों के श्रम सलाहकार सुरेन्द्र पति त्रिपाठी शामिल थे। वार्ता में मालिक ने माँगें लागू करने के लिए 15 दिन का समय माँगा और यह तय हुआ कि कल से मज़दूर काम पर जायेंगे तथा 15 दिन के भीतर सभी श्रम क़ानूनों का पालन किया जायेगा। 15 दिन बाद फिर से डी.एम. के समक्ष समीक्षा वार्ता की जायेगी।

इस आन्दोलन ने दिखा दिया कि अगर मज़दूर एकजुट रहें तो पूँजीपति-प्रशासन-नेताशाही की मिली-जुली ताक़त भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। उल्टे इन शक्तियों का जनविरोधी चेहरा बेनक़ाब हो गया। प्रशासन ने मज़दूरों को धमकाने और आतंकित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। एल.आई.यू. और एस.ओ.जी. के लोग फ़ैक्टरी इलाक़े में जाकर लगातार पूछताछ करते थे – तुम्हारे ये अगुवा नेता कहाँ से आये हैं। पुलिस अधिकारियों द्वारा लगातार धमकी देना कि मज़दूरों को भड़काना बनद करो और ज़िला छोड़कर चले जाओ वरना एनकाउण्टर या ज़िलाबदर करने में देर नहीं लगेगी। मालिक ने भी बदहवासी में बहुत कुछ योजनाएँ बनायीं, लेकिन मज़दूरों को एकजुट देखकर कुछ करने की हिम्मत नहीं पड़ी। कम्पनी के एक ठेकेदार की पत्नी ने कुछ महिला मज़दूरों को बताया कि अपने नेता लोगों को सावधान कर दो कि सूरज डूबने के बाद बरगदवा चौराहा की ओर मत आयें, उसने अपने पति के मुँह से सुना था कि आज नेताओं का "इन्तज़ाम" कर दिया जायेगा। ऐसी हर कोशिश के साथ मज़दूरों की एकता और मज़बूत होती गयी। मॉडर्न उद्योग के 51 दिन चले आन्दोलन के दौरान अंकुर उद्योग लि., वी.एन. डायर्स धागा व कपड़ा मिल तथा जालानजी पॉलीटेक्स के मज़दूर लगातार साथ में जमे रहे। अंकुर उद्योग के मज़दूरों ने आटा इकठ्ठा करके दिया तो सारी फ़ैक्टरियों के मज़दूरों ने चन्दा लगाकर सहयोग दिया। जब 10 बजे रात को अन्य कम्पनियों की शिफ़्ट छूटती थी तो रात को ही 500 से ज़्यादा मज़दूरों की मीटिंग होती थी, मज़दूरों की वर्ग एकता ज़िन्दाबाद का नारा लगता था।

ऐसे में मालिकों के सामने समझौता करने के अलावा कोई चारा नहीं था। लेकिन उसे लागू करने के मामले में वे अब भी तिकड़मबाज़ियों में लगे हुए हैं। 25 सितम्बर को जब कम्पनी का गेट खुला तो प्रबन्धक ने 18 अगुआ मज़दूरों तथा ठेकावालों को काम पर लेने से मना कर दिया। मज़दूरों ने डी.एम., सिटी मजिस्ट्रेट तथा डी.एल.सी. को फोन से सूचित कर दिया तथा गेट जाम कर बैठ गये। डी.एल.सी. भागते-भागते कम्पनी गेट पहुँचा तो मज़दूरों ने उसको घेर लिया। किसी तरह से वह कम्पनी के अन्दर घुस गया। फिर मज़दूर कम्पनी गेट जाम कर बैठ गये। पुलिस तथा पीएसी के आने से भी मज़दूर नहीं हटे, और सभी 18 मज़दूरों को काम पर लेने तथा प्रोडक्शन शुरू होने के 3 दिन बाद ठेका मज़दूरों को अन्दर लेने की बात पर ही उन्होंने गेट छोड़ा। उसके बाद से भी मालिकान अपने हथकण्डों से बाज़ नहीं आ रहे हैं। लेकिन मज़दूरों ने सबकुछ अच्छी तरह देख-समझ लिया है। वे इस व्यवस्था की सच्चाई को समझ गये हैं कि यहाँ लड़े बिना कुछ नहीं मिलने वाला। •

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डॉ. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डॉ. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ